विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक

सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः।

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः। एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः। विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः। द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः। एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशप्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते।

विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। संपादक-मंडल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है जिनकी रचनायें और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त पत्र व्यवहार करने का पता :—

संपादक, विश्वभारती पत्रिका,

हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।

विश्वभारती पत्रिका

(महात्मा गान्धी-जन्म-शती विशेषांक)

आषाढ़-माघ २०२६ | खण्ड १०, अंक २ | जुलाई-सितंबर १९६९

विषय-सूची

चित्र-सूची

विश्वभारतीपत्रिका

श्रावण-आश्विन २०२६ | खण्ड १०, अंक २ | जुलाई-सितंबर, १९६९

प्रेमेर सोना

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रविदास चामार झाँट देय धुलो।
सजन राजपथ विजन तार काछे,
पथिकेरा चले तार स्पर्श बाँचिये
गुरु रामानन्द प्रातःस्नान सेरे
चलेछेन देवालयेर पथे,
दूर थेके रविदास प्रणाम करल ताँके,
धुलाय ठेकालो माथा।
रामानन्द शुधालेन, 'बन्धु, के तुमि।'
उत्तर पेलेन, 'आमि शुक्नो धुलो'—
प्रभु, तुमि आकाशेर मेघ,
झरे यदि तोमार प्रेमेर धारा
गान गेये उठवे बोबा धुलो
रङ्गबेरङ्गेर फुले'।
रामानन्द निलेन ताके बुके,
दिलेन ताके प्रेम।
रविदासेर प्राणेर कुञ्जवने
लागल येन गीतवसन्तेर हाउया।

[१९३२ ई०

प्रस्तुत कविता गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वयं अंग्रेजी में अनुवाद करके महात्मा गान्धी के पास उनके तार के उत्तर में भेजी थी। महात्मा जी के अस्पृश्यता निवारण कार्यक्रम के गुरुदेव पूर्ण समर्थक ही नहीं थे, उन्होंने स्वयं भी इस दिशा में बहुत कार्य किया।—संपा०

(हिन्दी छाया)

प्रेम का सोना

रविदास चमार झाड़ू देता था।
जनाकीर्ण राजपथ उसके लिए निर्जन था,
पथिक उसका स्पर्श बचाकर चलते थे।
गुरु रामानन्द प्रातःस्नान करके
देवालय की ओर जारहे थे,
दूर से रविदास ने उनको प्रणाम किया,
धूल में माथा टेक कर।
रामानन्द ने प्रश्न किया, 'बन्धु, तुम कौन हो।'
उत्तर मिला, 'मैं सूखी धूल हूँ'—
प्रभु, तुम आकाश के मेघ हो,
यदि तुम्हारे प्रेम की धारा बहे
तो मूक धूल गीत गाने लगेगी
रंगबिरंगे फूलों में।
रामानन्द ने उसको हृदय से लगा लिया,
उसे प्रेम प्रदान किया।
रविदास के प्राणों के कुञ्जवन में
जैसे वसन्त के गीत की हवा लगी हो।

—रा० तो०

शान्तिनिकेतन और महात्मा गान्धी

कालिदास भट्टाचार्य

हम सभी को ज्ञात है कि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के उत्तर-जीवन की साधना भूमि शान्तिनिकेतन महात्माजी का कितना प्रिय स्थान था। जिस उत्तरायण में हम आज एकत्रित हुए हैं इस स्थान पर भी कितने घनिष्ठ सौहार्द भाव से वे परस्पर मिले थे ; जिस श्यामली के प्राङ्गण में यह सभा हो रही है गुरुदेव का अत्यंत प्रिय मिट्टी का यह घर महात्माजी का भी प्रिय वासगृह था। उन दोनों के तिरोधान के बाद जैसे जैसे समय बीतता जा रहा है यह बात सोचकर हम विस्मित होते हैं। हज़ारों वर्ष में भी पृथ्वी पर एक रवीन्द्रनाथ या एक गान्धी का आविर्भाव नहीं होता। तथापि ये दोनों महापुरुष एक ही देश में एक ही समय आविर्भूत हुए। उनका यह समकालीन आविर्भाव क्या बिल्कुल एक आकस्मिक घटना थी ? या इस में महाकाल का एक निगूढ़ अभिप्राय निहित था ? उनकी जीवनव्यापी चिन्ताधारा तथा कर्मपरंपरा पर गंभीर रूप से विचार करने पर हम किस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं ? महाइतिहास के विशाल पर्दे पर इस विशेष युग के संदर्भ में विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये दो महामानव इस देश में वास्तव में एक दूसरे के परिपूरक रूप में ही आए थे। केवल यही नहीं, अग्रज रवीन्द्रनाथ जैसे पहले से ही गान्धीजी के समान एक असामान्य आत्मिक-शक्तिसम्पन्न त्यागव्रती महान् नेता के आविर्भाव की प्रतीक्षा कर रहे थे।

सन् १८८८ की बात है। रवीन्द्रनाथ उस समय सत्ताईस वर्ष के युवक थे। भारतवर्ष के राजनैतिक क्षेत्र में उस समय भी यथार्थ नेता का आसन शून्य था। राजनैतिक आन्दोलन से उस समय केवल 'आवेदन निवेदन की थाली' लिए दौड़धूप करना ही अभिप्राय समझा जाता था। तरुण कवि व्याकुलभाव से उस समय यथार्थ नेता के आविर्भाव की प्रतीक्षा कर रहे थे। जो यह कहता—

परेर काछे हइबो बड़ो
ए कथा गिए भूले
बृहत् येन हइते पारि
निजेर प्राणमूले।

अर्थात्—दूसरे के निकट बड़ा हूँगा यह बात भूल कर अपने प्राणों में बड़ा हो सकूँ।

जो यह कहेगा—

सबाइ बड़ो हइले तबे
स्वदेश बड़ो हबे,

अर्थात्—जब सब बड़े हो जावेंगे तभी स्वदेश बड़ा होगा।

और—

मरणभय चरणतले
दलित हये रबे।

अर्थात—मरने का भय पैरों के नीचे दबा रहेगा।

—यह हुआ उस आत्मशक्ति का व्रत। कवि आशा करते हैं, कि इस आत्मशक्ति के यज्ञ में योग्यगुरु आकर आह्वान करेंगे—

तोमरा सकले एस मोर पिछे,
गुरु तोमादेर सबारे डाकिछे,
आमार जीवने लभिया जीवन
जागो रे सकल देश।

अर्थात्—तुम सब मेरे पीछे आओ, तुम्हारा गुरु सबको बुला रहा है, मेरे जीवन में सब कोई जीवन प्राप्त करके सम्पूर्ण देश जाग्रत हो।

कवि ने अपनी कल्पना के इस आदर्श नेता को और भी सुस्पष्ट भाव से रूप दिया १९०८ में, 'प्रायश्चित्त' नाटक में धनञ्जय बैरागी के चरित्र में। सत्यद्रष्टा कवि का प्रतीक्षित नेता उस समय दक्षिण अफ्रीका में था—

चारिदिक् हते अमर जीवन
विन्दु विन्दु करि आहरण

अर्थात्—चारों दिशाओं से बूँद बूँद करके अमर जीवन का संचय कर रहा हूँ।

दक्षिण अफ्रीका के आन्दोलन के समाचारों से कवि अपरिचित नहीं थे। एक चिट्ठी में उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के संग्राम के विषय में लिखा है—

'हिंसा के रक्तात्क पथ की नहीं, वीरत्वपूर्ण त्याग तथा महिमामय धैर्य के पथ पर मनुष्यत्व को उद्बोधन करने की यह साधना है'।

उसके पश्चात् विचित्र घटना संयोग, और कैसा बढ़िया कार्यकारण सूत्र! महात्माजी के साथ गुरुदेव का प्रत्यक्ष योगायोग स्थापित किया दीनबन्धु एण्ड्रूज ने। दोनों महामानवों के घनिष्ठ संयोग के लिए उन्होंने एक स्वर्णसूत्र का कार्य किया। सन् १९१४ में गाँधीजी

अपने फिनिक्स आश्रम के छात्रों को लेकर भारत लौटे। एण्ड्रूज के माध्यम से रवीन्द्रनाथ ने उनको शान्तिनिकेतन आने का निमंत्रण भिजवाया। छात्र पहले पहुँच गए थे। गान्धीजी और कस्तूरबा १७ फर्वरी सन १९१५ को पहुँचे। रवीन्द्रनाथ उस समय आश्रम के बाहर थे। गोखले की मृत्यु का समाचार पाकर गान्धीजी को हठात् पूना चले जाना पड़ा। वहाँ से लौटने पर कवि के साथ उनका साक्षात्कार हुआ। उसी वर्ष १० मार्च को कवि के अनुमोदनानुसार गान्धीजी ने शान्तिनिकेतन में स्वावलम्बन व्रत का प्रवर्तन किया। वह स्मरणीय दिन आज भी यहाँ 'गांधी पुण्याह' नाम से मनाया जाता है।

सन् १९१७ में कांग्रेस के कार्य से गांधीजी के कलकत्ता आनेपर जोड़ासाँको के विचित्रा घर में उनकी उपस्थिति में गुरुदेव ने 'डाकघर' का अभिनय किया। इसके पश्चात् सन् १९२० के अप्रेल महीने में गुरुदेव गुजरात गए और गान्धीजी के आमंत्रण पर साबरमती आश्रम में ठहरे। उसी वर्ष एण्ड्रूज के निमंत्रण पर गान्धीजी कलकत्ता कांग्रेस के समय शान्तिनिकेतन पधारे।

इसके बाद अनेक प्रसंगों को लेकर गुरुदेव और गांधीजी के बीच समय समय पर मतभेद हुआ किन्तु उनमें एक दूसरे के प्रति परस्पर जो प्रीति और श्रद्धा थी वह जरा भी कम नहीं हुई। इस वास्तविक मतभेद के अवसर पर गुरुदेव द्वारा लिखित 'सत्येर आह्वान' (सत्य का आह्वान) निबंध तथा गांधीजी द्वारा लिखित 'द ग्रेट सेंटीनेल' (महान प्रहरी) निबंध इस के साक्षी हैं।

सन् १९३२ में महात्माजी के यरवदा जेल में अनशन शुरू करने पर गुरुदेव उन्हें देखने यरवदा गए। जेल में ही गुरुदेव की उपस्थिति में महात्माजी ने अनशन तोड़ा। महात्माजी के अनुरोध पर गुरुदेव ने स्वरचित यह गीत गाया—

जीवन यखन शुकाये याय
करुणाधाराय एसो।

'अर्थात् जीवन जब सूख जाय तो करुणाधाराके रूप में आओ।'

सन् १९३६ में जर्जर स्वास्थ्य लिए हुए गुरुदेव विश्वभारती के लिए अर्थसंग्रह करने के लिए निकले हैं—यह सुनकर महात्माजी के उद्वेग का ठिकाना नहीं रहा। साठ हजार रुपये की व्यवस्था करके गुरुदेव को इस प्रकार दैहिक परिश्रम से विरत रहने का उन्होंने अनुरोध किया।

दोनों के बीच अंतिम भेंट सन १९४० में १७ फर्वरी को हुई—जब गान्धीजी शान्तिनिकेतन आए—शान्तिनिकेतन में पहली बार आने के ठीक पचीस वर्ष बाद। विदाई लेने के पूर्व गुरुदेव ने एक पत्र में महात्माजी से अनुरोध किया कि गुरुदेव के न रहने पर गान्धीजी इस आश्रम का दायित्व सँभालें, क्योंकि 'विश्वभारती' उनके जीवन की श्रेष्ठ संपत्ति है जिसे वे

छोड़े जारहे हैं। गुरुदेव के इस अनुरोध का उत्तर महात्माजी ने दिया था, गुरुदेव के तिरोधान के बाद रथीन्द्रनाथ को लिखित एक पत्रमें, उसमें उन्होंने लिखा—'मैं जहाँ भी रहता हूँ विश्वभारती सर्वदा मेरे अन्तर में रहती है'।

शान्तिनिकेतन के साथ गांधीजी का संपर्क केवल गुरुदेव के माध्यम से ही नहीं था। कवि के अग्रज द्विजेन्द्रनाथ को गांधीजी 'बड़ो दादा' मानते थे, आचार्य नन्दलाल विशेष घनिष्ठ व्यक्ति थे, और दीनबन्धु एण्ड्रूज उनके अभिन्नहृदय सुहृद थे। दीनबन्धु स्मृति-भवन का शिलान्यास करने के उद्देश्य से महात्माजी १९४५ में अन्तिम बार शान्तिनिकेतन आए। उस समय यहाँ के कार्यकर्ताओं के साथ उन्होंने जो विचारविनिमय किया था—उसकी स्मृति अनेक लोगों के मन में अभी भी उज्ज्वल है।

अंत में और एक बात का उल्लेख करना चाहता हूँ। पहले ही कह चुका हूँ—कि मानो गुरुदेव ने सचमुच महात्माजी के आविर्भाव की प्रतीक्षा की थी। इस बार कहूँगा, सत्यद्रष्टा ऋषि ने केवल महात्मा के 'आविर्भाव की संभावना' की ही ओर इंगित नहीं किया था, गांधीजी के महान 'प्राण विसर्जन' की ओर भी इंगित उनकी कविता में मिलता है। महात्मा के तिरोधान के अनेक वर्ष पहले जैसे कवि ने भविष्यत् द्रष्टा के समान उस मर्मान्तिक घटना को देख लिया था। इस प्रसंग में गुरुदेव की 'शिशुतीर्थ' कविता स्मरणीय है। अधिनेता के अनुचरों ने उसकी हत्या कर डाली है। और वे ही प्रश्न करते हैं—

के आमादेर पथ देखावे ?

अर्थात् हमें कौन रास्ता देखावेगा ?

उत्तर मिला—

आमरा याके मेरेछि सेइ देखावे,

* * *

क्रोधे ताके आमरा हनन करेछि,
प्रेमे एखन आमरा ताके ग्रहण करब,
केन-ना मृत्युर द्वारा से आमादेर सकलेर जीवनेर मध्ये सञ्जीवित,
सेइ महामृत्युञ्जय।

अर्थात—हमने जिसको मारा है वही देखावेगा, क्रोध में हमने उसको मार डाला है, प्रेम में अब उसे ढूँढेंगे, क्योंकि मृत्यु के द्वारा वह हम सभी के जीवनों में सञ्जीवित है, वही महामृत्युञ्जय।' —इससे बढ़कर सत्य बात आज और क्या है! कवि की प्रार्थना में ही आज बोलें—जय मृत्युञ्जय जय!

[गांधी शती समारोह पर दिए भाषण से

गांधी-विचारधारा : एक संश्लिष्ट दृष्टिकोण[1]

आचार्य जी० भा० कृपालानी

यद्यपि गांधीजी अहिंसावादी थे, तथापि वे एक क्रांतिकारी थे और उन्हें मानव-जीवन की एकता में विश्वास था। जीवन एक सम्पूर्ण इकाई है; इसे धार्मिक, नैतिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, वैयक्तिक और सामूहिक कहकर, अलग-अलग, निश्चित बँधे हुए दायरों में नहीं रखा जा सकता। जितने भी अलग-अलग दिखनेवाले बाह्यरूप हैं वे सभी व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पहलू-मात्र हैं। वे आपस में एक दूसरे पर क्रिया एवं प्रतिक्रिया करते हैं। वास्तव में ऐसी कोई भी समस्याएँ नहीं हो सकतीं जो विशुद्ध नैतिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, वैयक्तिक अथवा सामूहिक हों; वे आवश्यक रूप से एक-दूसरे से गुँथी हुई हैं।

मानव-जीवन का विभिन्न दायरों में विभाजन अधिकतर विश्लेषण और अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से किया जाता है। किन्तु वास्तविक जीवन में इस तरह के विभाजन से निर्मित 'कृत्रिम व्यक्ति' का कोई अस्तित्व नहीं है। इस तरह के व्यक्ति के अध्ययन से जो ज्ञान प्राप्त होगा वह आंशिक और एकांगी ही होगा। वह जीवन के तथ्यों की व्यवस्था के संबंध में सही नहीं होगा। अगर उस पर भरोसा किया जाए और उसी के अनुसार कार्य किया जाए तो व्यक्ति में एक विभाजित-व्यक्तित्व पनपेगा और समाज-समूह में असंतुलन पैदा होगा। विश्लेषण और अध्ययन ही मानव-जीवन के अंतिम उद्देश्य नहीं हैं। जीवन—वैयक्तिक और सामाजिक, दोनोंही—जीने के लिए है। अध्ययन और उससे प्राप्त ज्ञान केवल वहीं तक उपयोगी है जहां उससे व्यक्ति को इस बात में सहायता पहुंचती है कि वह ठीक से व्यवहार कर सके और अच्छी तरह से, आदर्शों के अनुकूल जीवन जी सके। इसीलिए प्रत्येक द्रष्टा पैगम्बर अथवा सुधारक जीवन की एक समुचित व्यवस्था खोजता है।

यदि जीवन कृत्रिम तौर पर अलग-अलग दायरों में विभाजित नहीं किया जा सकता, और यदि इसका उद्देश्य व्यावहारिक है तथा वह ठीक ढंग से और आदर्शों के अनुकूल जिया जाने को है तो एक निश्चित व्यवस्था अथवा किसी कार्यक्रम के अनुसार ही उसे जिया जाना चाहिए। इसे किन्हीं निश्चित, आधारभूत सिद्धांतों और मूल्यों के आधार पर चलना चाहिए। इन सिद्धांतों के बिना वह दिशाभ्रष्ट एवं लक्ष्यच्युत हो जाएगा। वह निरुद्देश्य हो जाएगा

---

१. महात्मा गान्धी जन्मशती समारोह के उपलक्ष्य में आयोजित १५ से १९ जनवरी ६९ तक हुई गोष्ठी के अवसर पर दिया उद्घाटन भाषण।

और परिणामतः असंयमित, अनिश्चित और पथ-भ्रष्ट हो जाएगा। मानव-व्यवहार मुख्य रूप से सामाजिक आचरण है ; अगर उसमें दिशा और उद्देश्य की कमी रही तो भविष्य आशाप्रद नहीं हो सकता। इन परिस्थितियों में सामाजिक अनिश्चितता अनिवार्यतः होगी। इसलिए यदि जीवन एक इकाई है तो वे सिद्धांत और मूल्य जिनपर उसे चलना है, वे भी ठीक तरह से संगठित किए जाएं और एकता के सूत्र में बांधे जाएं। उनकी एक सुसंगत व्यवस्था आवश्यक है।

गांधीजी के जीवन और विचार में एकता का सूत्र :

गांधीजी ने अपना जीवन किन्हीं निश्चित आदर्श-सिद्धांतों के अनुकूल जिया। और इसलिए वह संगठित एवं सुसम्बद्ध था। वह संगति और लय से पूर्ण था। उनके उपदेशों एवं सुधार के तरीकों में भी वही एकता और सुसंगठन देखने को मिल सकता है। उद्देश्य और लक्ष्य की आधारभूत एकता वहां है। इस तरह की एकता स्पष्ट रूप से उसे देखने को नहीं मिलेगी जो गांधीजी के जीवन तथा उनके भाषणों एवं रचनाओं का आंशिक रूप से अध्ययन करे। एकता के तत्व वहां भी हैं किन्तु उन्हें किसी व्यवस्था में नहीं बांधा गया है। गांधीजी ने स्वयं अपने विचारों को व्यवस्थित रूप देने का प्रयास कभी नहीं किया। बहुत से प्राचीन सुधारकों एवं पैगंबरों की तरह ही वह किसी परिस्थिति-विशेष में क्रियारत होने में ही संतुष्ट रहते थे और अपने आधारभूत नैतिक सिद्धांतों के अनुसार उन्होंने जीवन की समस्याओं का समाधान—समस्याएँ जब जैसी उठीं अथवा उनके सामने आईं तब उनका वैसा ही समाधान प्रस्तुत किया। उन लोगों की तरह ही गांधीजी ने विचारों की व्यवस्था और तार्किक संगति का काम दूसरों पर छोड़ दिया। विभिन्न समस्याएँ जो उनके सामने थीं, अथवा देश और दुनिया के सामने थीं, उनके भी समाधान उन्होंने प्रस्तुत किए। ये समाधान व्यावहारिक थे और अधिकतर अपने समय और परिस्थितियों का रंग लिए हुए थे। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि गांधीजी ने न तो कोई नया दर्शन रचा और न कोई पंथ कायम किया और न कोई धर्म ही।

इस तरह की तार्किक व्यवस्था के न होने अथवा किसी मतवाद के अभाव के फायदे और और नुकसान दोनों हैं। वैचारिक व्यवस्था और पंथ का स्वभाव रूढ़, स्थायी और आकारिक होने का है। वे अंधी परम्पराओं एवं एक अनुचित प्रकार के धार्मिक उत्साह को जन्म देते हैं। जिज्ञासा की स्वतंत्र वृत्ति अन्वेषण और प्रयोग में वे रुकावट पैदा करते हैं। परिवर्तन

और विकास, अगर असंभव न भी हो तो भी बड़ी मुश्किल से हो पाते हैं। समय के साथ रूढ़ विचारधाराएं और विचार-व्यवस्थाएं अपनी शक्ति एवं सर्जनात्मक प्रवृत्ति खो देती हैं। कोई भी रूढ़ विचारधारा अथवा विचार-व्यवस्था, चाहे वह कितनी हो अधिक उदारवादी एवं व्यापक क्यों न हो, काल एवं स्थान तथा अपने समय की परिस्थितियों के प्रभाव से अछूती नहीं रह सकती। जीवन अधिक काल तक कुछ रूढ़ विचारों, सैद्धांतिक विचारधाराओं और परम्पराओं के सीमित दायरों में बँधकर नहीं रह सकता। उनसे तो नए ज्ञान और अनुभव का रास्ता बंद हो जाता है और जिन लोगों को सिर्फ उनमें ही विश्वास है, उनकी शक्ति भी चुक जाती है। उनमें यह तथ्य निहित है कि सारा ज्ञान और अनुभव किसी एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों में किसी एक समय और किसी एक स्थान में ही था और भावी पीढ़ियों की सर्जनात्मक प्रतिभा व तत्परता के लिए कुछ शेष नहीं रह जाता।

दूसरी ओर, विचार-व्यवस्था के न होने से इसके अपने नुकसान हैं। विचार की सुसम्बद्धता एवं व्यवस्थात्मक एकता नहीं रह पाती। उसमें संगठनात्मक संगति की कमी होती है। इसका परिणाम यह होता है कि अधिकतर आचरण के विरोध को, अव्यवस्थित विचार, अभिव्यक्ति तथा कर्म के आधार पर, सही ठहराया जा सकता है। सामान्य व्यक्ति को केवल सिद्धान्तों की जरूरत नहीं, उसे जीवन को कठिन यात्रा में मार्ग ढूंढने के लिए कुछ विस्तृत नियमों एवं कायदों की भी आवश्यकता है। इनके अभाव में वह भ्रमित होता है। वह सदैव अपने लिए उन सिद्धान्तों के निहित अर्थ का विस्तार नहीं देख पाता कि जिससे वह अपने आचरण को उनके अनुसार नियंत्रित कर सके।

गांधीजी की विचार-व्यवस्था का लचीलापन :

एक ओर तो एकदम रूढ़, बँधी हुई विचार व्यवस्था है, एकरूपता और नियम है, और दूसरी ओर व्यवस्था का अभाव है जहाँ प्रत्येक स्थिति विशिष्ट समझी जाती है और अपने विशेष गुणों के आधार पर जाँची जाती है ; किंतु इन दोनों सीमान्तों के बीच का भी एक रास्ता है। इसमें आधारभूत सिद्धान्त और मूल्य कौन से हैं, यह बतला दिया जाता है तथा उन पर किस तरह अमल किया जाए यह बात व्यक्तियों और व्यक्ति-समूहों के दायित्वपूर्ण एवं ईमानदारी से लिए गए निर्णय पर छोड़ दी जाती है कि जिससे किन्हीं परिस्थितियों के रहने पर वे अपने आचरण में आवश्यक परिवर्तन कर सकें। गांधीजी की सम्पूर्ण विचारधारा एक ऐसी ही लचीली व्यवस्था थी। इसका अध्ययन करते समय इसके आधारभूत सिद्धान्तों को

स्पष्ट रूप से व्यक्त करना होगा, उनके निहित अर्थों को समझना होगा तथा उनका क्षेत्र निश्चित करना होगा। यह सब तब संभव होगा जब बड़े विस्तार में और सतर्कता के साथ गांधीजी की न केवल कृतियों का अपितु उनके जीवन का भी आलोचनात्मक अध्ययन किया जाए। ईमानदारी से किए गए इस तरह के अध्ययन से ही, बिना अधिक सोच-विचार और तथ्यों की बिना जानकारी पर आधारित तथा पक्षपातपूर्ण रुखों को दूर किया जा सकता है। इससे अनावश्यक अति-उत्साह पर भी रोक लगेगी। गांधीजी की विचारधारा के विश्लेषण एवं उसके संगठन की कई कठिनाइयाँ उनके व्यक्तित्व, उसके विकास तथा उनके विचार और—विचारों के क्रियान्वित किए जाने के कारण उत्पन्न होती हैं। अतएव उनकी विचारधारा को व्यवस्थित तौर पर प्रस्तुत किया जाए इसके पूर्व इन कठिनाइयों पर ध्यान देना आवश्यक है।

गांधीजी सिद्धान्त शास्त्री नहीं थे :

गांधीजी विशुद्ध अर्थ में बुद्धिवादी नहीं थे। वे न तो ज्ञान के पंडित थे और न एक दार्शनिक ही। वे सिद्धान्तशास्त्री नहीं थे। उनके सोचने का तरीका विद्यार्थी के तरीके जैसा नहीं था, उसमें सर्जनात्मक प्रतिभा का गुण था। वे आवश्यक रूप से सच्चे अर्थों में कर्म-रत व्यक्ति थे। उन्होंने बहुत कुछ लिखा ; किंतु वह सब ज्ञान के लिए नहीं था ; वह कर्म के लिए मार्ग-दर्शन करने के खयाल से लिखा गया था। उन्होंने जो कुछ भी लिखा वह साधारणतः उस जमाने की विविध पहलुओंवाली, जटिल परिस्थितियों से उत्पन्न वास्तविक समस्याओं के समाधान से संबंधित है। सैद्धान्तिक चर्चा बहुत ही संक्षिप्त और अपूर्ण है। ज्यों ही गांधीजी के दिमाग में एक विचार आया अथवा योजना आई—उन्होंने उसे कार्यरूप में परिणत करने की कोशिश की और दूसरों को भी वैसा ही करने के लिए प्रेरित किया। जहां तक दूसरों को कार्य के लिए प्रेरित करने का प्रश्न था वहां स्वाभाविकतः उन्होंने अपने विचार एवं योजनाएं दूसरों के सामने स्पष्ट कीं। किन्तु उनकी व्याख्याएं संक्षिप्त और स्थान और परिस्थिति के अनुकूल होती थीं। उनका निर्देश अथवा मार्गदर्शन व्यावहारिक होता था। साधारणतः उनकी व्याख्याएं एवं उनका निर्देश समाचार पत्र के लेखों द्वारा व्यक्त किया जाता था अथवा उनके भाषणों अथवा समिति की बहसों से जाहिर होता था। गांधीजी ने कुछ थोड़ी सी पुस्तकें भी लिखी हैं। किंतु ये सब विशेष समस्याओं से संबंधित हैं। परन्तु उनके लिखे जाने का उद्देश्य गांधीजी की विचार-व्यवस्था की तर्क-सम्मत व्याख्या प्रस्तुत करना नहीं है। उनकी रचनाओं में दूसरे विचारकों और लेखकों

की रचनाओं से उद्धृत अंश नहीं हैं। गांधीजी ने अपने विचारों को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए तथा उन लोगों द्वारा अपने स्वयं के सोचने व कार्य करने के तरीके को अपनाये जाने के लिए, एक कर्मठ सुधारक की तरह, सिद्धान्त चर्चा और प्रचार की बात छोड़कर सब कुछ स्वयं कर करके दिखलाया। इसका परिणाम यह हुआ कि विचार-व्यवस्था की दृष्टि से न केवल उसमें असम्बद्धता है जिसे दूर करने की आवश्यकता है, अपितु ऊपरी तौर पर उसमें अनेक विरोध भी हैं जिन्हें उनकी सम्पूर्ण विचारधारा के संदर्भ में दूर किया जाना चाहिए।

सर्जनात्मक तथा आविष्कारक बुद्धि

गांधीजी के विचार नए एवं क्रान्तिकारी हैं चाहे उनकी अभिव्यक्ति और प्रस्तुतीकरण का बाहरी रूप कुछ भी हो। वे ऐसे व्यक्ति की सर्जनात्मक बुद्धि के कारण उत्पन्न होते हैं, जिनकी सुधारात्मक उत्साह-वृत्ति के लिए समाज की स्थिति और युग की समस्याएं चुनौती स्वरूप हैं। उनकी दृष्टि में ऐतिहासिक घटनाओं की प्रभावशीलता और उदाहरण नई वैचारिकता एवं खोज के लिए बाधक नहीं थे। उन्होंने अपने विचार, ज्ञान तथा खोज की सामग्री पुस्तकों से प्राप्त नहीं की। उन्होंने अपना समय पुस्तकालयों तथा संग्रहालयों में मोटी मोटी किताबों के बीच नहीं गुज़ारा। उनके ज्ञान का बहुत बड़ा हिस्सा जीवन के साथ स्थापित सीधे सम्पर्क तथा उससे प्राप्त होनेवाले व्यावहारिक अनुभव का परिणाम था। इसीलिए उन्होंने अपने विचारों में, विद्वज्जन की भाषा का उपयोग न कर, एक व्यावहारिक साधारण बुद्धिमान व्यक्ति की भाषा में, जनता के सामने रखा। अपने विचारों को समझाने के लिए वह दार्शनिक तथा मत-मतान्तरों की तकनीकी भाषा का प्रयोग नहीं करते। वह आम लोगों के बीच के व्यक्ति थे और उनसे उनकी ही सामान्य प्राकृतिक भाषा में, जो वे लोग समझते थे, वे बातचीत करते थे। उन्होंने पुस्तकों में क्या पढ़ा और अध्ययन किया, यह न बतलाकर उन्हें वह सब बतलाते थे जो उन्होंने देखा, भोगा, अनुभव किया और सोचा-विचारा। वह उन लोगों के सामने उसका वर्णन करते थे जो उन्होंने स्वयं देखा; उनसे वह अपनी प्रतिक्रियाओं की बात कहते थे। यही तो एक तरीका था धर्म-सुधारकों एवं द्रष्टाओं का। वे आम मनुष्यता के सम्पर्क में थे। उनकी यह विधि सर्वसाधारण व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता के लिए—किसी शैक्षणिक विधि की तुलना में—अधिक उपयोगी था। वह तत्काल ही उसे अपील करती है और उसका विश्वास भी उसमें दृढ़ हो जाता है।

किंतु, अधिकतर वह बौद्धिक एवं शिक्षा-संस्कार में पली हुई बुद्धि को अविश्वस्त एवं तटस्थ रहने देती है। गांधीजी इतिहास के भी कोई अच्छे विद्यार्थी नहीं थे। पुराने ज़माने के द्रष्टाओं की तरह ही उन्होंने इतिहास की सृष्टि की। अतएव उनके कार्य की व्यावहारिक रूपरेखाएं तथा उनकी व्याख्याएं उनके दर्शन की सृष्टि करती हैं।

आज का युग पैगम्बरों और द्रष्टाओं के लिए नहीं है। वह स्वतःप्रमाण, अन्तश्चेतना पर आधारित ज्ञान में विश्वास नहीं करता। वह अन्तःप्रेरणा में विश्वास नहीं करता भले ही धर्म, दर्शन, विज्ञान तथा कलाओं में कुछ महत्तम सत्य तर्क का परिणाम न होकर अत्यंत प्रतिभाशाली व्यक्तियों की अन्तश्चेतना का परिणाम हों। हमारा युग बौद्धिक, तार्किक एवं वैज्ञानिक युग है। प्रत्येक बात जो कही जाती है वह बौद्धिकता लिए हुए तथा तर्क सिद्ध होनी चाहिए। उसका संबंध एव सगठनात्मक योग भूत एवं वर्तमान में प्राप्त ज्ञान के साथ होना चाहिए। ऐतिहासिक घटनाओं की प्रामाणिकता के द्वारा उसे और भी मजबूत बनाना चाहिए। किसी बौद्धिक ढाँचे में उसे फ़िट होना चाहिए। पुराने ज़माने में मनीषी और पैगम्बर अपने निष्कर्षों तक अंतर्दृष्टि और स्वतःप्रमाण के आधार पर पहुँचते थे उनका कहना था कि अपनी साधना, अटूट ध्यान और योगाभ्यास के द्वारा उन्होंने वह ज्ञान प्राप्त किया। इसलिए वे अपने ज्ञान के पक्ष में एक आध्यात्मिक सत्ता के प्रमाण का दावा कर सकते थे। उनके इस दावे को शायद ही कभी चुनौती दी गई। अगर किसी प्रमाण की आवश्यकता हुई तो जिसतरह का जीवन उन्होंने जिया, जो करिश्मे उन्होंने संभवतः दिखलाए, और जिस तरह की साहित्यिक एवं काव्यमय शैली का उन्होंने बोलने तथा लिखने की - भाषा में प्रयोग किया, वे सब ही उनके प्रमाण बन गए। पुराने ज़माने के द्रष्टाओं ने यहां तक दावा भी किया कि मूलभूत अथवा आधारभूत सत्य तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, ईसा ने अपने संबंध में ईश्वर का पुत्र होने की घोषणा की। इस कही गई बात के लिए कोई तर्क-सिद्ध प्रमाण नहीं है। किन्तु फिर भी उनके अनुयायियों ने उसे सच माना और आज भी उसे सच मानते हैं। मुहम्मद ने अपने को ईश्वर का दूत घोषित किया और उनके सभी अनुयायी—पहले और आज के—उन्हें दूत ही मानते हैं। श्रीकृष्ण ने स्पष्टतः अपने को सर्वोत्तम भगवान पुरुषोत्तम घोषित किया और हिन्दुओं का इसमें निहित विश्वास है। गौतम बुद्ध ने केवल निर्वाण-प्राप्ति का दावा किया, और अपने अनुयायियों के लिए वे बुद्ध हैं जिन्होंने निर्वाण प्राप्त किया था। किंतु यह बात ज़रूर है कि इन महापुरुषों ने कुछ बातों का स्पष्टीकरण किया। यह भी सच है कि आदिकाल से चली आती हुई परम्परा, रीति-रिवाज़ और मान्यताओं की वजह से

जन-साधारण को उन बहुत सी बातों पर विश्वास था जिनके प्रति आज संशय व्यक्त किया जाता है। पुराने ज़माने के पैगम्बरों को अपने अनुयायियों के निकट अपनी कही हुई बातों को उस तरह तर्क-सिद्ध बतलाने और विज्ञान-सम्मत ठहराने की—चाहे उनमें विश्वास किए जाने के तथा उनके स्वीकार किए जाने के जो भी कारण रहे हों—ज़रूरत नहीं पड़ी जिस तरह आज के सुधारकों और क्रांतिकारियों के लिए यह ज़रूरी है जो जनता को यों ही कुछ भी मान लेने को स्वतंत्र नहीं हैं।

प्राकृत एवं प्राचीन युग के आम मनुष्य की बुद्धि बड़ी सहजता से विश्वास कर लेती थी। संभवतः इसका कारण उसमें अपेक्षाकृत अधिक संवेदनशीलता एवं अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट कल्पना है। आलोचनात्मक शक्ति वैज्ञानिक तौर पर प्रशिक्षित एवं विकसित नहीं हुई थी। अतएव एक बार यदि किसी पैगम्बर को स्वीकार कर लिया गया तो वे उनके उपदेश नियम व कानूनों की स्थापना करते थे। यह समझा जाता था कि उनमें जीवन की सभी तरह की परिस्थितियों के हल करने की क्षमता थी। जनसाधारण के लिए इतना ही काफी था। अपने विशेष शिष्यों के लिए उन शिक्षकों व पैगम्बरों के पास अधिक मनोवैज्ञानिक तरीके थे। उन्होंने दीक्षित व्यक्तियों के लिए कुछ नित-प्रतिदिन के अभ्यास व अनुशासन निश्चित किए। उनके लिए इसका परिणाम एक आन्तरिक अनुभूति की उपलब्धि थी और उसका विश्वास उनमें अडिग हो सका।

किंतु आज के आभिजात्य युग में तथ्यों के अधिक बारीकी से अध्ययन तथा अधिक तर्क-सिद्ध प्रमाणों की आवश्यकता है। ऐसी परिस्थितियों में यह आवश्यक हो जाता है कि शिक्षक के मौलिक विचारों और उसके कार्यों में अंतर्निहित तर्क को ढूंढ़ा जाए। गुरु के संक्षिप्त और रहस्यमय लेखों और व्याख्याओं को विस्तार में कहा जाए, रिक्तताओं को भरा जाए और जो विरोधाभास दिखलाई देते हैं उनकी संगति उसके आधारभूत विचार के साथ बिठाई जाए और किसी तरह की एक तर्क-सम्मत विचार-व्यवस्था विकसित की जाए। ये व्याख्याएँ सुधारक के जीवन व कार्य के अनुकूल होनी चाहिए। यह तब केवल परिश्रम के साथ किए गए अध्ययन के द्वारा ही संभव है।

गांधीजी ने प्राचीन गुरुओं और सुधारकों के कार्य का अनुसरण किया। वे लंबे-चौड़े तर्कों पर भरोसा नहीं करते। शायद ही कभी किसी आप्तवचन को उन्होंने उद्धृत किया। उन्होंने उन तमाम विषयों का जिनसे उनको वास्ता पड़ा, न तो कोई विशेष, न कोई सिल-सिलेवार अध्ययन ही किया था। उनका समस्त अध्ययन बहुत सामान्य किस्म का था। उन्होंने थोड़ा अध्ययन धर्म-साहित्य का किया था किन्तु उसका उद्देश्य समाज के एक जिम्मेदार

सदस्य होने के नाते स्वयं के आचरण को नियमित करना और इस प्रकार सत्य को ढूंढ़ना अथवा जहां तक वह सत्य किसी मर्त्यशील मानव को—जिसकी क्षमता अनिवार्यतः सीमित है—मिल सकता है, उसे प्राप्त करना था। इसके लिए सदैव तर्क संगति की जरूरत नहीं पड़ी। गांधीजी ने गीता की व्याख्या की है। किंतु उन्होंने न तो अन्य धर्मग्रंथों के आप्त का उल्लेख किया और न पहले के अथवा समकालीन व्याख्याकारों का ही। यद्यपि इस धर्मग्रंथ की उनकी परिव्याख्या कई मायनों में अनूठी है पर उन्होंने गीता के अन्य व्याख्याकारों के तर्कों का जवाब देने की कोशिश नहीं की। यद्यपि उन्होंने आप्त वचन उद्धृत नहीं किए और अपने विचार तथा कार्य के संबंध में उन्होंने काफी साहित्य रचा, फिरभी उन्होंने अधिकतर कम से कम शब्दों का प्रयोग किया। लेखादि अपने वृहद् आकार के बावजूद भी कठिन एवं सूत्र-शैली में हैं। शब्दों का निरर्थक प्रयोग नहीं है। साहित्यिक अलंकरण के लिए कोई प्रयास नहीं है। वे अपने विचारों को निहायत सीधी और आसानी से समझ में आने वाली किंतु असरदार भाषा में व्यक्त करते हैं। वह शब्दों का इतना कम से कम उपयोग करते हैं कि साधारण भाषा में यह कहा जा सकता है कि वे सूत्र लिखते हैं। इनके विस्तार में कहे जाने की, व्याख्या और परिव्याख्या की, आवश्यकता है।

गांधीजी की प्रस्तुत करने की शैली

गांधीजी के बोलने और लिखने की शैली आज के अधिकतर शिक्षित लोगों की आवश्यकता के अनुकूल नहीं है। किंतु उन लोगों के द्वारा ही आज जन-मत प्रभावित होता है। वे ही उपदेशक, शिक्षक और लेखक हैं। भारत में विचार के ढाँचे को वे ही निश्चित करते हैं। यह बात सही है कि उनको ज्योति पश्चिम से मिलती है। उदाहरण के तौर पर, गांधीजी ने समाजवाद का नाम नहीं लिया, किंतु सामाजिक न्याय और जनता की निरी गरीबी को दूर करने की बात कही। किंतु इसका अर्थ अधिकतर गलत समझा गया, क्योंकि आज एक बच्चा भी समाजवाद की बात करता है भले ही उसके अर्थ के संबंध में उसके दिमाग में बहुत ही अस्पष्ट विचार क्यों न हों।

आज की शिक्षा-प्रणाली, खास तौर पर भारत में, ऐसी नहीं बनाई गई कि जिससे निरीक्षण की क्षमता, संवेदनशीलता और कल्पना विकसित हो। उसमें संकीर्ण बौद्धिकता है। अतएव आज के शिक्षित लोग ऐसे विचारों का ठीक तरह से तभी मजा ले सकते हैं और उन्हें समझ सकते हैं जबकि वे अन्य लोगों की रचनाओं के द्वारा प्रस्तुत किए जाएं।

वे ग्राम्य-अंचल के बीच से गुज़रते समय प्राकृतिक सौंदर्य, फूल और चिड़ियों के गान के प्रति संवेदनशील नहीं रहते। किंतु इन सबका आनंद वे गद्य एवं काव्य की पुस्तकों के माध्यम से प्राप्त करते हैं। वे, एक तरह से, स्काईलार्क नामक चिड़िया के गान की तारीफ करते हैं, जो गान वह ऊँचे और ऊँचे उड़ते हुए गाती है, यद्यपि उन्होंने कभी न तो कोई स्काईलार्क देखी और न कभी उसके स्वर ही सुने। वे कला का आनंद तभी ले पाते हैं जब उसका विश्लेषण और उसकी समीक्षा उनके निमित्त कर दी जाती है। यहां तक कि भारतीय जनता के एक बड़े भाग का दुःख-दर्द, गरीबी और बेकारी को हमारे गांवों में जिए जाने वाले जीवन में देखकर समझने के बजाय वे सांख्यिकी की पुस्तकों के माध्यम से ही समझते हैं। लिखित शब्द ही उनके लिए जानकारी और ज्ञान का एकमात्र साधन है। विद्वान लेखकों के और मान्यता प्राप्त ग्रंथों से कुछ थोड़े से उद्धरण अपेक्षाकृत अधिक निर्णायक और अधिक वैचारिक-विश्वास उत्पन्न करनेवाले समझे जाते हैं बनिस्बत उन तमाम तथ्यों के जिनके निरीक्षण और स्वतंत्र मूल्यांकन की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, यह सोचा गया था कि पश्चिमी यूरोप की समृद्धि बड़े केन्द्रीयकृत उद्योग पर आधारित है। यदि भारत के पास वह सब हो सकता तो उसकी आर्थिक समस्याएँ दूर हो जातीं। विद्वान भारतीय अर्थ-शास्त्रियों के ध्यान में यह बात नहीं आई कि अगर उद्योग के पीछे विकासशील कृषि-व्यवस्था न हुई तो वह असफल हो जाएगा और गरीबी के प्रश्न का हल नहीं दे पाएगा। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में ब्रिटिश सरकार ने अनाज संबंधी कानून को रद्द कर दिया जिससे अनाज का सस्ता निर्यात हो सके और इस तरह उद्योग जी सके। अमेरिका का इतना बड़ा औद्योगिक उत्पादन वहां की विकसनशील खेती पर आधारित है। आबादी का सात प्रतिशत समस्त अमेरिका की जनता का पेट भरता है और फिर भी बहुत अधिक अनाज दूसरे देशों के लिए बचा रखता है। जब तक साम्यवादी देश कृषि-समस्या का समाधान नहीं ढूंढ़ लेते तब तक वे अमेरिका के उद्योग, उत्पादन और समृद्धि की बराबरी नहीं कर सकते।

भारत में आज का शिक्षित वर्ग साधारणतया सँकरे और एकदम सीमित बौद्धिक घेरों में विचरण करता है। जो कुछ मान्यताप्राप्त ग्रंथों द्वारा भी समर्थित नहीं है उसे संशय की दृष्टि से देखा जाता है। यह अधिकतर यहां शिक्षित वर्ग द्वारा नए विचारों के प्रति अपनाए गए रवैये से सिद्ध होता है। नए विचारों को समझ पाने की असमर्थता तब और भी बढ़ जाती है जब इस तरह के विचार विद्वज्जन की भाषा में व्यक्त न होकर सर्वसाधारण की भाषा में व्यक्त होते हैं। उनका एकदम आसान होना ही उनके समझे जाने तथा मूल्यांकन

किए जाने में बाधक है। जैसी स्थिति मध्ययुग में यूरोप के शिक्षित वर्ग की थी, ठीक वैसी ही आज हमारी स्थिति है। जो कुछ भी ग्रीक और लैटिन भाषा में नहीं लिखा गया वह पढ़ने योग्य नहीं समझा गया। भारत में आज भी संस्कृत के पण्डित अपनी प्रांतीय मातृभाषा से परिचित नहीं हैं। यद्यपि इस शिक्षितवर्ग की रूढ़िवादिता का आज के युग में स्वरूप बदल गया है, फिर भी उसकी निहित शक्ति ज्यों की त्यों है। न केवल एक उचित तकनीकी भाषा का प्रयोग किया जाना चाहिए बल्कि विद्वता का कोई न कोई मुखौटा लगाना भी आवश्यक है।

और आज तो, कुछ भी, जब तक उसे वैज्ञानिक ढाँचे में प्रस्तुत न किया जाए, स्वीकार नहीं किया जाएगा। सभी खोजों को काय-कारण संबंध के रूप में व्यक्त किया जाना चाहिए; और कार्य को कारण से आवश्यक-रूप से उत्पन्न मानना चाहिए। यदि कोई बात एकदम वैज्ञानिक पदावली में व्यक्त की जाए और यदि यह दिखलाया जा सके कि तार्किक दृष्टि से काय कारण का परिणाम है और कार्य-कारण संबंध प्रकृति और इतिहास की अनिवार्यता से संचालित होता है, तो उस बात को संभवतः स्वीकार कर लिया जाएगा, भले ही कार्य कारण संबंध असुविधाजनक और परेशान करने वाले तथ्यों एवं तत्वों की उपेक्षा कर देने पर स्थापित किया गया हो। तथाकथित वैज्ञानिक नियम किन्हीं विशेष स्थानीय परिस्थितियों के कारण तथा आज के युग का परिणाम हो सकता है, किंतु अगर उसका वैज्ञानिक ढाँचा कायम रहा तो वह स्वीकृत हो जाएगा। सामाजिक विज्ञान में अधिकांश सामान्यीकृत सिद्धान्त इसी तरह के हैं। वे अति-साधारणीकरण द्वारा निश्चित किए गए हैं। बहुधा जिस 'मैटर' की जरूरत होती है वह नहीं मिलता क्योंकि वह उस समय अस्तित्व में नहीं होता उसका अस्तित्व तो केवल ऐतिहासिक परिवर्तनों के बाद ही संभव है। अधिकतर सभी बदलते हुए आर्थिक मतवाद इसी तरह के हैं। अधिकतर सामाजिक विज्ञानों में विभिन्न मतों के बीच विरोध महज शाब्दिक है। स्वीकृत ढाँचे का अपनाया जाना तर्क के सही होने का प्रमाण है।

किंतु गांधीजी अपनी कही हुई बातों को सिद्ध करने के लिए इस तरीके को नहीं अपनाते। उदाहरण के तौर पर, राष्ट्र के सम्मुख खादी और ग्राम-उद्योग के कार्यक्रम को रखते समय उन्होंने अर्थशास्त्रियों की भाषा में अपनी योजना के निहित अर्थों की विधिवत् चर्चा नहीं की। उन्होंने भारतीय अर्थ व्यवस्था में—जैसी वह आज है—विकेन्द्रीय कुटीर उद्योग की आवश्यकता और उपयोगिता पर कोई विद्वतापूर्ण प्रबन्ध नहीं लिखा। उन्होंने मूल्य, उत्पादन-खर्च, मांग और पूर्ति आदि जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर चर्चा नहीं की। दूसरी ओर उन्होंने नए और क्रांतिकारी विचार के पक्ष में सरल और अनौपचारिक कारण दिए। उन्होंने जन-सामान्य

की गरीबी और तज्जनित उनके आलसीपन की बातें कीं। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि असली भारत गांवों में ही बसा है। श्रम के उपयोग का विचार, श्रम की बचत की रीतियों के विरुद्ध, यथोचित तकनीकी पदावली में नहीं रखा गया जिसे केवल विद्वज्जन ही समझ सकते थे ; उसका उपयोग और मूल्यांकन, जरूरत पड़ने पर, अपनी सैद्धान्तिक बहसों में कर सकते थे। यही एक तरीक़ा साधारणतः भारत में उन दिनों युवा समाजवादियों द्वारा अपनाया गया था। उनकी हरएक बैठक में एक प्रबन्ध प्रस्तुत किया जाता था और उस पर बहस होती थी। एक बार एक प्रबन्ध यह था कि क्या गांधीजी साहूकारों एवं साम्राज्य-वादियों के मित्र थे।

अगर गृह उद्योग के निहित आर्थिक उद्देश्यों को तकनीकी भाषा में व्यक्त कर व्यवस्थित रूप नहीं दिया गया तो उसके निहित राजनीतिक उद्देश्यों पर तो और भी कम ध्यान दिया गया। गांधीजी ने स्वराज की चर्चा की ; किंतु खादी, चर्खा आदि के साथ उसके पारस्परिक संबंध को किसी प्रबंध में ठीक तरह से नहीं बताया गया। और न कोई प्रबंध विचार-विनिमय के लिए ही प्रस्तुत किया गया। कोई संगोष्ठी अथवा पाठ्यक्रम भी आयोजित नहीं किया गया।

चर्खा और भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता के बीच संबंध बहुत दूर का लगता है, किंतु इन दोनों के बीच संबंध दिखला सकना बिल्कुल संभव है। गांधीजी अगर चाहते तो वह यह दिखला सकते थे कि किस प्रकार देश के आर्थिक संगठन का विचार स्वेच्छा से किए गए सहकारी प्रयास पर आधारित है जो खादी से आरम्भ होकर धीरे-धीरे राष्ट्र के आर्थिक और औद्योगिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में विकसित होता है। यह विस्तृत संगठन और उसके द्वारा मिला हुआ अनुभव राजनीतिक उद्देश्य, दिशा, अनुशासन, आत्म-त्याग, सामाजिक कर्त्तव्यों का स्वीकार, नेता के प्रति आज्ञाकारिता आदि के रूप में परिवर्तित हो सकता है। ये सब बातें विदेशी साम्राज्यवादी शासन को समाप्त करने के लिए आवश्यक बतलाई जा सकती हैं और इनके द्वारा स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश का जीवन समानता के ढाँचे में फिर से सुव्यवस्थित किया जा सकता है। यह दिखलाया जा सकता है कि कोई भी राष्ट्रीय आंदोलन—उपर्युक्त कही गई बातों में जो गुण निहित हैं, उनके अपनाए बिना—सफल नहीं हो सकता। तर्क प्रस्तुत करते समय, हर क़दम पर, इतिहास से उचित, समानान्तर उदाहरण दिए जा सकते हैं। वैज्ञानिक ढंग पर एक व्यवस्थित प्रबंध तैयार किया जा सकता है किंतु गांधीजी ने इस तरह कुछ भी करने का प्रयास नहीं किया। यह बात नहीं थी कि वह ऐसा नहीं कर सकते थे। उनके भाषणों एवं उनकी रचनाओं में सब तरह के तर्क बिखरे हुए हैं।

संभवतः उनकी प्रतिभा पुस्तकों में डूबे रहनेवाले शोधार्थी की नहीं थी। साथ ही साथ एक व्यावहारिक सुधारक होने के कारण उनके पास इतना समय भी नहीं था कि वह पुस्तकालयों और संग्रहालयों में काम करते। कार्य करते हुए भी उनको सोचना पड़ता था और एक क्रांतिकारी आंदोलन का मार्गदर्शन भी करना पड़ता था।

एक अन्य उदाहरण लें। गांधीजी ने लाखों के लिए जिस शिक्षा-पद्धति को प्रस्तावित किया उसकी कोई विस्तृत रूपरेखा उन्होंने तैयार नहीं की। "हरिजन" के कुछ लेखों में उन्होंने 'दिशा' का निर्देश भर किया। सौभाग्य से इस अवसर पर कुछ शिक्षाशास्त्रियों से उनको इस विषय में सहायता मिल गई। उस समय की मौजूदा शिक्षा व्यवस्था से जो—निर्जीव एवं आत्मा का हनन करनेवाली थी, असंतुष्ट होकर ये लोग अपने-अपने कुछ प्रयोग कर रहे थे। इन्होंने यूरोप और अमेरिका में शिक्षा के क्षेत्र में आधुनिक प्रवृत्तियों का अध्ययन भी किया था। इन शिक्षाशास्त्रियों ने गांधीजी को नई शिक्षा-व्यवस्था—नई तालीम अथवा बुनियादी शिक्षा—का सैद्धान्तिक आधार निश्चित किया। किंतु विद्वानों के मन में 'नई तालीम' के वैज्ञानिक रूप के संबंध में आज भी संशय है।

पाश्चात्य तरीक़ा :

पाश्चात्य देशों में, यदि कोई सुधारक अथवा दार्शनिक एक नए विचार को सर्वग्राही बनाना चाहता है अथवा यह चाहता है कि एक नई व्यवस्था जनता द्वारा स्वीकृत हो, तो वह उस संबंध में विस्तृत तौर पर लिखता है। वह उसमें निहित सैद्धान्तिक बातों को सामने रखता है और संभावित व्यावहारिक परिणामों का संकेत भी करता है। वह इसी क्षेत्र में कार्य करनेवालों के कार्य का उल्लेख करता है। वह यह बतलाता है कि वह किस तरह और किन बातों में अपने से पहले के लोगों से मतभेद रखता है और क्यों उसके विचार तथा उसकी सुधार संबंधी योजनाएं अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक हैं तथा समय और परिस्थिति के अधिक अनुकूल हैं। वह अपने विचारों का इतिहास बतलाता है और यह दिखलाने का प्रयास करता है कि समय के बीतने और घटनाओं के कारण वे किस प्रकार अनिवार्य हो जाते हैं। वह उनका बौद्धिक आधार सिद्ध करता है। वह इस बात को दिखलाने का प्रयत्न करता है कि वह विचार न तो रूमानी है, न पुराने विचारों की अनुकृति मात्र, और न वह रहस्यात्मक ही है। वह यह बतलाने का प्रयास करता है कि वे विचार व्यावहारिक हैं, विकासवादी और वैज्ञानिक हैं और सर्वसम्मत तथ्यों पर आधारित हैं तथा ज्ञान के किसी एक विशेष क्षेत्र में

ही नहीं अपितु अन्य संबंधित क्षेत्रों में भी अधुनातन अनुसंधानों से प्रेरित हैं। यह रूढ़िवाद की आपत्तियों और आलोचनाओं का उत्तर सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक तौर पर देने की कोशिश करता है। सारांश में, कहने का तात्पर्य यह है कि कागज़ पर यह एक बौद्धिक, तार्किक एवं वैज्ञानिक व्यवस्था प्रस्तुत करता है जिसके अंग आम तौर से एक दूसरे से बँधे हुए हैं और जो कम से कम परस्पर असंगत नहीं हैं और ज्ञान तथा समकालीन जीवन के सामान्य ढाँचे में फिट होते हैं। इसका उदाहरण इस बात में देखा जा सकता है कि किस प्रकार मार्क्स व एंजेल्स ने, सर्वहारा क्रांति, सर्वहारा वर्ग की तानाशाही तथा अंत में जाति वर्ग-विहीन समाज की स्थापना जिससे भविष्य में हमेशा के लिए सभी लोग सुखी रह सकें, इन सब बातों से संबंधित अपने विचारों को सैद्धान्तिक चर्चा की।

पाश्चात्य द्वारा अपनाया गया आधुनिक तरीका यह है कि कोई नया विचार जनता के सम्मुख उसकी स्वीकृति हेतु रखा जाता है। किसी चीज़ को व्यावहारिक रूप देने के पहले बौद्धिक एवं तर्क-प्रक्रिया द्वारा तथा विषय की विद्वतापूर्ण व्याख्या द्वारा मस्तिष्क को यथेष्ट प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है। अगर ठीक से यह पद्धति अपनायी जाए तो इससे नई उम्र के लोगों के लिए भी विकसनशील तर्क को समझ पाना आसान हो जाता है। यह तरीका उनकी निरीक्षण शक्ति तथा उनकी विवेचनात्मक बुद्धि से, जो उम्र और अनुभव के साथ बाद में विकसित होती है, किसी बात की मांग नहीं करता। यह बात सब जानते हैं कि सत्याग्रह आन्दोलन के समय, १९३०-३२ के बीच, भारत में समाजवाद तथा साम्यवाद का जन्म जेलों में हुआ। शहरी युवा लोगों से, जो स्कूल और कालेज से अभी-अभी निकले थे, ये जेल भरे हुए थे। उनके पास वहाँ बहुत अवकाश था। वे ठोस वास्तविकताओं से दूर थे। उन्होंने अपने समय का उपयोग पुस्तकों के अध्ययन में किया। साम्यवादी रूस उस जमाने में—जैसा आज भी वह कर रहा है—अपना प्रचारवादी साहित्य सभी देशों के पुस्तक बाजारों में फैला रहा था जो दुनिया की सभी मुख्य भाषाओं में अनूदित था। इन नवयुवकों ने इस साहित्य में प्रतिपादित सिद्धान्तों को पढ़ा जो तथ्यों पर, भले ही आंशिक तौर पर ही, आधारित थे तथा ऊपरी तौर पर वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित तथा तर्कसम्मत थे और जिनमें बहुत से अर्थवान तकनीकी शब्द व मुहावरे तथा सुविधाजनक नारे मिल सकते थे। यह सोचना असान नहीं था कि कुछ विशेष ऐतिहासिक तथ्य जानबूझकर अथवा अनजाने में ही तर्क के बाहर छोड़ दिए गए। तर्क-प्रक्रिया में कहीं कुछ कमी रह गई, यह देख पाना भी उस समय बड़ा मुश्किल था। नए विचारों से ही बौद्धिक वर्ग पूरी तरह प्रभावित था, विशेषतः इसलिए कि प्रथम महायुद्ध के बाद किसी के पास भी तत्कालीन महाजनी व्यवस्था

की प्रशंसा के लिए कोई भी शब्द नहीं था, जिस व्यवस्था में एक ओर महल थे तो दूसरी ओर सँकरी, गंदी गलियाँ, जहाँ कुछ लोगों के पास सब कुछ था वहाँ अधिकतर लोग प्रायः भूखे थे, और जहाँ अति-उत्पादन के दौर में कीमतों की गिरावट के साथ युद्ध की सामग्री में वृद्धि होती थी तथा बीच-बीच में बाज़ार और कच्चेमाल के लिए साम्राज्यवादी युद्ध होते थे।

महाजनी व्यवस्था को कभी अपने पक्ष में अर्थशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों से बल मिला था। अब उसका पक्ष उसी तरह समाप्त हुआ। नई विचारधारा ने जहाँ एक ओर युवा-कल्पना को अपने आसमानी उद्देश्यों द्वारा प्रखर बनाया वहाँ दूसरी ओर उनके मन में अपने प्रति विश्वास पैदा किया क्योंकि उसका दावा तथ्यों पर आधारित और तर्कसम्मत था तथा वैज्ञानिक तर्क प्रणाली पर निर्भर था। उसकी सफलता की प्रतिष्ठा भी थी। रूस में एक युग से चली आई हुई मध्यकालीन तानाशाही को उसने समाप्त किया, बेकारी को दूर किया तथा समय-समय पर औद्योगिक संकटों से मुक्ति दिलाई, जो सब महाजनी व्यवस्था के उत्पादन की खास विशेषताएँ हैं। बहुत थोड़े समय में एक पिछड़े हुए कृषि-प्रधान देश का उसने औद्योगीकरण किया। एक बृहत् भूभाग की आर्थिक योजना उसने संभव की। उसने एक तरह की समानता स्थापित की भले ही वह समानता सब के एक-से ही ग़रीब होने में ही क्यों न रही हो। कुछ नई असमानताएँ जो साथ में जन्म ले रही थीं वे उस समय नहीं देखी जा सकीं। नई विचार-व्यवस्था ने उन लोगों के मन में जिन्हें इसमें पूर्ण निष्ठा थी, यह विश्वास पैदा किया कि सभी देशों में, चाहे वह प्रजातान्त्रिक हों, साम्राज्यवादी हों या उपनिवेशवादी, कृषि-प्रधान हों या उद्योग-प्रधान, मध्ययुगीन हों या आधुनिक, विकसित हों या पिछड़े हुए, सर्वहारा क्रांति अवश्यंभावी है। दुनिया आसानी से दो विरोधी खेमों में बाँट दी गई ; जहां एक में सब कुछ था किंतु दूसरे में कुछ नहीं, जहां एक धनिक वर्ग था तो दूसरा सर्वहारा वर्ग। समाज में और किसी तरह का विभाजन नहीं था। वहाँ न ही राष्ट्रीय सीमारेखाएँ थीं—और न आपसी विभाजन ही। सारे संसार भर में धनिकों का एक वर्ग था और उसी तरह ग़रीबों का भी एक वर्ग था। सभी देशों के धनाढ्य एक थे। उनके स्वार्थ एक-से थे और उनके बीच किसी तरह की मुठभेड़ नहीं थी। और भौगोलिक सीमाओं, राष्ट्रीय देश-भक्ति अथवा रूढ़ विश्वास द्वारा विभाजित नहीं थी। बूर्ज़ुआ और सर्वहारा, ये दोनों वर्ग सभी जगह युद्ध के लिए तत्पर थे, और ऐतिहासिक अनिवार्यता द्वारा युद्ध के सर्वहारा वर्ग द्वारा जीते जाने की बात पहले से निश्चित कर दी गई थी। सारे विश्व के सर्वहारा वर्ग की सिर्फ़ युद्ध आरम्भ करने भर की देर थी। और अगर वे ऐसा करते तो वे नए क्रांतिकारी रूस राज्य के लाखों सैनिकों से सहायता की अपेक्षा कर सकते थे।

गांधीजी ने इस तरह के कोई सुविधाजनक सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किए जो विस्तारपूर्वक तार्किक एवं गणितीय ढंग पर तैयार किए गए हों। जैसा कि हमने पहले कहा है, तर्क-प्रक्रिया में बहुत सी कमियाँ हैं और ऊपरी तौर पर जिनमें विरोधाभास हैं। गांधीजी इतनी तेज़ी से विचार करते थे कि तर्क-प्रक्रिया की अनेक कड़ियों को छोड़कर वह निष्कर्षों तक पहुँच जाते थे। इन कड़ियों को किसी कार्यकर्त्ता अथवा शिक्षार्थी को अपनी बुद्धि और निरीक्षण द्वारा जोड़ना होगा।

गांधीजी ने आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं की चर्चा एक उच्च दृष्टिकोण रखकर, नैतिक तथा मानवीय आधार पर की। इसलिए यदि कोई नवयुवक गांधीजी के अर्थशास्त्र एवं राजनीति का अध्ययन करना चाहता है तो उसे इन विषयों पर बहुत अल्प व्यवस्थित साहित्य को लेकर ही संतोष करना पड़ेगा। यह हमारे यहां के विश्वविद्यालयों के युवा छात्रों के लिए, जिन्होंने वर्त्तमान भारतीय शिक्षा-पद्धति के अंतर्गत शिक्षा पाई है, बहुत कठिन काम है। वह पका-पकाया, ठीक से व्यवस्थित और सारांश में दिए गए ज्ञान को पसंद करता है। दुर्भाग्यवश गांधीजी यह सब नहीं करते। गांधीजी के विचारों को समझने में यह पहली बड़ी कठिनाई है। उनके व्यवस्थित, सुसंगठित एवं सुसम्बद्ध किए जाने की आवश्यकता है। उन तमाम विषयों से संबंधित उनके विचार जिनकी उन्होंने चर्चा की, उनकी रचनाओं में बिखरे हुए हैं। उन्हें ठीक से व्यवस्थित करना होगा। उन्हें उचित तकनीकी शब्दावली में प्रस्तुत करना होगा जो आज के समाजविज्ञानों में प्रयुक्त होती है।

संश्लिष्ट विचार :

जैसा कि मैंने पहले कहा है, गांधीजी जीवन को एक सम्पूर्ण इकाई मानते हैं। मानव जीवन के संबंध में उनका दृष्टिकोण संश्लिष्ट है। अतएव उनकी सुधार-संबंधी वास्तविक योजनाएं एक-दूसरे से घनिष्ठ तथा अविभाज्य तौर पर जुड़ी हुई हैं। उनमें एक प्रकार की लय और संगति है। किन्हीं निश्चित निर्देशात्मक एवं नियामक विचारों, मूल्यों और सिद्धान्तों के ज़रिए एकता स्थापित हो पाई है।

जीवन का मतलब विकास होता है और विकास का विषय मुख्यतः व्यक्ति है। व्यक्ति कल्पना करता है, संवेदन पाता है, सोचता है और क्रिया करता है। जहां तक हमारे आज के ज्ञान का सवाल है, ये सारी प्रतिक्रियाएं आसानी से अथवा पूर्णतया यांत्रिक माप,

गणिनीय परिगणना अथवा नियंत्रित दशाओं में बार-बार किए जाने वाले प्रयोगों के अनुकूल नहीं बनाई जा सकतीं। जीवन में अनिश्चित, अधिकतर असंतुलित व्यक्तियों के स्वप्न, उनकी आशाएं, इच्छाएं और महत्वाकांक्षाएं देखने को मिलती हैं। व्यक्ति सोचता है और समाज स्वयं एक गतिशील, जटिल इकाई है। अपनी राह में चलते हुए व्यक्ति और समाज विचार के निश्चित वर्गीकृत दायरे में और आज के कड़े नियमों में कभी भी नहीं बंध सकते। इसलिए सामान्यीकरण और भविष्यवाणी के लिए जैसी गुंजाइश भौतिक विज्ञानों में है वैसी व्यक्ति और समाज के विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक अध्ययन में नहीं है। साथ ही, अंतिम मूल्य और उपयोगिता के विषय विश्लेषण और विज्ञान के बाहर हैं। किसी सुधारक को, खास तौर पर गांधीजी जैसे व्यक्ति को, मुख्यतः अंतिम मूल्य और उपयोगिता से ही मतलब हो सकता है। केवल अध्ययन ही उनका उद्देश्य नहीं है। अपने विचारों, आदर्शों और विचार-व्यवस्था को फिर से तौलना और उनका फिर से मूल्यांकन करना गांधीजी के लिए आवश्यक है। उन्हें व्यक्ति और समाज को नए सांचे में ढालना, उनको नया रूप देना तथा उनकी एक नई रचना करना था। विश्लेषण तो उनके लिए केवल सामग्री ही दे सकता है जिसका उपयोग संश्लेषणात्मक तथा रचनात्मक ढंग पर कर पाने की उनमें दृष्टि थी।

देश की प्रतिभा के अनुकूल हो कार्य-प्रणाली :

अपने संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण में, गांधीजी देश की जनता की प्रतिभा के अनुसार ही कार्य करते हैं। भारतीय प्रवृत्ति विश्लेषण और विभाजन की उतनी नहीं है जितनी विभिन्न प्रवृत्तियां और शक्तियों को परस्पर संयोजित करने तथा नए को पुराने से संश्लिष्ट करने व जोड़ने की है। भारत का धार्मिक इतिहास इस तरह की जोड़ने की प्रवृत्ति के उदाहरणों से भरा पड़ा है। उपनिषद् और गीता प्राचीन भारतीय धर्म-दर्शन में संश्लेषणात्मक आन्दोलनों की बात कहते हैं। भारत में मध्ययुग के पूर्ववर्ती काल में भक्ति की विभिन्न धाराओं ने संश्लेषण की दिशा में एक नई उमंग पैदा की। बाद में नानक, चैतन्य, नरसिंह मेहता, कबीर, दादू तथा अन्यलोगों के सन्तमत आंदोलनों में हिन्दू तथा मुस्लिम विचारधाराओं को आंशिक तौर पर संयोजित करने की कोशिश की गई। विभाजित करने वाले आंदोलन बहुत ही कम हुए और आम तौर पर उनकी जड़ें भी देश में नहीं जमने पाई। भारतीय प्रयास बराबर विरोधाभासों को किसी द्वंदात्मक गतिशील प्रक्रिया के माध्यम से दूर करने का ही रहा है। दो सिद्धान्तों के बीच विरोध को समाप्त करने के लिए तथा उसकी समाप्ति पर एक अस्थायी संश्लिष्ट विचार कायम करने के लिए उसे किसी विध्वंसात्मक क्रांति

की जरूरत नहीं हुई। पारस्परिक संयोजन विचार की शक्ति तथा किन्हीं मूलभूत विचारों के द्वारा संभव होता है। भारतीय जनता की प्रतिभा रचनात्मक, उदार और सब तरह के विचारों को अपनानेवाली है। वह न तो निषेधात्मक है और न विध्वंसात्मक हो।

संश्लिष्ट विचार में तार्किक असंगतियां ढूंढ़ना आसान है। संश्लेषण का अर्थ ही दो विरोधी विचारों का समन्वय है जो आकारिक तर्कशास्त्र की दृष्टि में व्याघाती है। कुछ मूलभूत मान्यताओं और परिकल्पनाओं को सत्य मानकर एकांगी और आंशिक तर्कवाक्य आकारिक तर्कशास्त्र के नियमों द्वारा सिद्ध किए जा सकते हैं। किंतु इस तरह के विचार एवं तर्क प्रक्रिया से प्राप्त निष्कर्ष, जो केवल अमूर्त चिन्तन का परिणाम हैं, केवल आकारिक एवं सैद्धान्तिक तौर पर, गणित की तरह ही, सही हैं। जीवन में उनकी उपयोगिता बहुत ही सीमित है। जैविक परिस्थितियाँ जो समय और मनुष्य की बुद्धि तथा प्रयास द्वारा लाए गए परिवर्तन के साथ विकसित होती हैं, विश्लेषण और आकारिक तर्कशास्त्र के नियमों के अंतर्गत नहीं आतीं।

सुधारक होने के नाते गांधीजी का वास्ता जीवन के अनेक जटिल रूपों से था। कभी कोई एक पहलू महत्व पाता तो कभी दूसरा। यह सब समय, स्थान और उनके श्रोतागण पर निर्भर करता है, और साथ ही इस बात पर भी कि किस मौके पर किस बात पर अधिक बल दिया जाना अपेक्षित है इस तरह का संश्लिष्ट विचार आसानी से किसी रूढ़ व्यवस्था में नहीं बंध सकता। यह जीवन की घटनाओं के प्रवाह पर अपने को आधारित करता है और साथ ही नेता के सर्जनात्मक, गत्यशील और क्रांतिकारी विचार पर भी। किसी अन्य मापदण्ड के अनुसार उसमें तार्किक असंगतियाँ व विरोध हो देखे जा सकते हैं। यह भी संभव है कि संश्लिष्ट विचार की अनेक परिव्याख्याएं हों। यह भी संभव है कि किसी पक्ष पर अधिक बल दिये जाने के कारण अथवा इसके कुछ पहलुओं के नज़रअन्दाज़ किए जाने के कारण इसकी परिव्याख्या गलत हो। अतएव यह स्वाभाविक है कि जो अज्ञानी हैं और जिन्हें ठीक-ठीक सूचनाएं नहीं हैं वे इसका विरोध करें और इसकी आलोचना करें। वे मनमाने तौर पर वह सब उद्धृत कर सकते हैं जिनसे उनकी आलोचना का उद्देश्य पूरा हो।

आध्यात्मिक व भौतिक का संश्लेषण :

गांधीजी भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को संश्लिष्ट करने का प्रयास करते हैं। इसलिए उन्हें दोनों से मतलब है। किसी परिस्थिति की आवश्यकता को देखकर वह कभी एक पर बल देते हैं तो कभी दूसरे पर। उदाहरण के तौर पर, वह अक्सर यह कहा करते थे कि वह

चावल के प्याले में भगवान को गरीबों तक पहुँचा देंगे। ऐसी स्थिति में, यह बहुत आसान है कि उनको गलत समझा जाए और उनकी परिव्याख्या को गलत समझा जाए, अगर कोई उनके द्वारा किसी एक पक्ष पर दिए गए बल पर ही अपना ध्यान केंद्रित करता है और उनके बाकी सारे विचारों की उपेक्षा कर देता है और इस तरह उनके अर्थ और उद्देश्य को विकृत करता है और उल्टा समझता है। अधिकतर उनकी आलोचना अध्यात्मवादियों और भौतिकवादियों, दोनों ने ही की। आध्यात्मवादियों ने उनको इस बात के लिए दोषी ठहराया कि उन्होंने आध्यात्मिक विचार की शुद्धता को अर्थशास्त्र तथा राजनीति से दूषित किया। समाजवादियों तथा साम्यवादियों ने गांधीजी पर अधिकतर इस बात का आरोप लगाया कि वह आर्थिक तथा राजनीतिक मामलों को सत्य व अहिंसा संबंधी अपने विचारों तथा साध्य और साधन-संबंधी अपने दर्शन से अलग नहीं रख सके। वे ज़ोर देकर यह कहते हैं कि वे प्राणपन से जनता की राजनीतिक व आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करेंगे,, किंतु उन्हें नैतिक व आध्यात्मिक मामलों से कोई मतलब नहीं। अतएव वे लोग गांधीजी के आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आग्रह को नहीं समझ सकते। उनका ख़याल है कि राजनीतिक स्वतंत्रता और आर्थिक समानता के प्रश्न ही सबसे महत्त्वपूर्ण मामले हैं और लोगों का ध्यान नैतिक समस्याओं की ओर, जो अप्रासंगिक है, नहीं खींचा जाना चाहिए। उनका तर्क है कि किसी को इस बात का हक नहीं है कि वह आर्थिक व राजनीतिक स्वार्थों का बलिदान नैतिकता के खयाल से करे; किसी देश की नियति से अथवा जनता के साथ इस तरह का खिलवाड़ नहीं किया जा सकता। व्यक्तियों को भले ही इस बात का अधिकार हो—और किन्हीं विशेष परिस्थितियों में चाहे कर्तव्य भी हो—कि वह निजी स्वार्थों का बलिदान नैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए करे, किंतु किसी राष्ट्र को इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि वह नैतिक उद्देश्यों के लिए भौतिक स्वार्थों का उत्सर्ग कर दे। इस तरह के आलोचक यह नहीं देख पाते कि गांधीजी ने कभी भी उसका बलिदान नहीं किया जिसे वह देश अथवा जनता का वास्तविक हित मानते थे; केवल उन्होंने उन हितों को अति संकीर्ण दृष्टि से नहीं देखा। उन्होंने किसी देश के वास्तविक राजनीतिक तथा भौतिक स्वार्थों व नैतिकता के मूलभूत सिद्धान्तों के बीच कोई निहित विरोध नहीं देखा। उनका विचार था कि न तो व्यक्ति और न व्यक्ति-समूह ही नैतिकता का खयाल पूरी तरह से छोड़ सकता है। किसी दुष्कर्म की कीमत तो चुकानी ही पड़ेगी, अगर तत्काल नहीं तो एक लंबे समय के बाद, चाहे राजनीतिक व आर्थिक रूप में ही, जैसा कि इतिहास द्वारा अच्छी तरह विदित है। किसी देश में भौतिक समृद्धि के ह्रास के पूर्व हमेशा ही वहां के लोगों की नैतिकता में ह्रास हुआ है।

गांधीजी पर अधिकतर यह आरोप लगाया गया कि उन्होंने राजनीति के आध्यात्मीकरण के अपने प्रयास द्वारा साम्प्रदायिक समस्या को प्रखर बनाया। आलोचकों का कहना था कि धर्म को राजनीति से अलग रखा जाना चाहिए। आलोचक-गण गांधीजी द्वारा नैतिकता के मूलभूत सिद्धान्तों के अनुसार राजनीति को ढालने के प्रयास को देखकर यह समझते रहे कि वह भारत में धर्मराज्य की स्थापना चाहते थे।

यह भी सत्य है कि गांधीजी द्वारा उद्योग के विकेन्द्रीयकरण के समर्थन को उनकी रचनाओं से आंशिक असम्बद्ध उद्धरण देकर, सब प्रकार के औद्योगीय केन्द्रीयकरण के प्रति विरोध के रूप में समझा जा सकता है। इस बात की शिकायत भी की जाती है कि वे समस्त वैज्ञानिक ज्ञान और अनुसधान के पक्ष में नहीं थे क्योंकि वे प्रकृति पर भौतिक विजय और बढ़ती हुई भौतिक आवश्यकताओं और वस्तुओं की तुलना में मानव-मूल्य की अनिवार्यता के महत्व का समर्थन करते हैं। चूँकि उन्होंने शिक्षा का माध्यम रचनात्मक अथवा उद्देश्यपूर्ण क्रिया को माना, इसलिए यह समझा गया कि वह सब प्रकार के बौद्धिक ज्ञान के खिलाफ थे। उनके आलोचक यह नहीं देख पाते कि उनका लक्ष्य अपेक्षाकृत अधिक गहरा और अधिक विस्तृत बौद्धिक ज्ञान ही है जो सहकारी प्रयास और अनुभव के ज़रिए प्राप्त किया जा सकता है।

बहुत से आलोचकों के लिए गांधीजी को समझ सकना मुश्किल है, और वे लोग उनकी रचनाओं और भाषणों से कुछ अंशों को उद्धृत कर, जो अपने संदर्भों से कटे हुए हैं, गांधीजी के विचार में असंगतियां बतलाते हैं। किंतु जहां विद्वान लोग तर्क-विरोध देखते हैं वहां गांधीजी को अपनी रचनात्मक प्रतिभा और जीवन के प्रति संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण की वजह से कोई विरोध नहीं दिखता। वह, उदाहरण के तौर पर, हिन्दू और मुसलमानों के स्वार्थों के बीच कोई विरोध नहीं देखते। वह दोनों समुदायों के मित्र होने का दावा करते हैं और साथ ही स्वयं को एक संस्कारी हिन्दू होने का भी। यह बात कोई संस्कारी हिन्दू नहीं समझ पाता। एक मुस्लिम लीगी के लिए गांधीजी का एक संस्कारी हिन्दू होने का दावा एक प्रकार से विशुद्ध चाटुकारिता है। उसका यह तर्क है कि अगर गांधीजी एक पक्के हिन्दू थे तो वह हिन्दुओं के हित में ही काम करेंगे। मुस्लिम लीगी यह नहीं समझ सकता है कि कोई अपने समाज से प्रेम रखते हुए भी दूसरे समाज के प्रति निष्पक्ष, और उदार तक, हो सकता है। दूसरी ओर हिन्दू सम्प्रदायियों ने गांधीजी पर मुसलमानों की झगड़ालू, हेकड़ और अनुचित मांगों पर हिन्दुओं के हितों का बलिदान कर देने का आरोप लगाया।

मनुष्य और मनुष्य में कोई भेद नहीं :

गांधीजी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हितों में भी कोई विरोध नहीं देखते। किंतु संकीर्ण राष्ट्रवादियों ने उनके मानववाद की, उसे राष्ट्रीय हितों का त्याग कहकर भर्त्सना करने में कोई हिचक नहीं दिखलाई। दूसरी ओर, बौद्धिक अन्तर्राष्ट्रवादी, उल्टे ही, गांधीजी पर संकीर्ण और आक्रामक राष्ट्रवाद का आरोप लगाता है। दोनों ही पक्ष अपने-अपने तर्कों के समर्थन में कुछ अंश उद्धृत करते हैं जिन्हें वे अपने तर्क के लिए उचित समझते हैं, किंतु वे अंश अपने संदर्भ से कटे हुए हैं।

एक बार एक अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ ने गांधीजी से किसी राजनीतिक तर्क-बहस के दौरान कहा कि वे स्वभावतः अपने देशवासियों से विदेशियों की अपेक्षा अधिक प्रेम करते होंगे। उसे स्वभावतः आशा थी कि गांधीजी उत्तर में हामी भरेंगे। किंतु गांधीजी ने उसे यह कह कर आश्चर्यचकित किया कि वे मनुष्य और मनुष्य में कोई भेद नहीं मानते और वह अंग्रेज और भारतीय दोनों से प्रेम करते थे। "तब फिर आपके स्वदेशी की मान्यता का क्या मतलब है, गांधीजी ?" उस प्रतिष्ठित विदेशी ने पूछा। गांधीजी का उत्तर था कि मानव जन की सेवा का सबसे आसान और सबसे प्रभावशाली तरीका अपने पड़ोसी की सेवा है। उस अंग्रेज ने फिर पूछा, "उस हालत में आप मुस्लिम लीग की सेवा क्यों नहीं करते ?" गांधीजी ने उत्तर दिया, "मैं कांग्रेस की तरह ही लीग की भी सेवा करने को तैयार हूँ किंतु लीग उसे ग्रहण नहीं करेगी। मैं अपनी सेवाएं उन लोगों पर ज़बर्दस्ती नहीं थोप सकता जिन्हें उसकी ज़रूरत नहीं है। मैं तो ऐसी स्थिति में, केवल प्रार्थना का सहारा ही ले सकता हूँ।"

गांधीजी के वृहत् साहित्य से रचनाओं के कुछ उपयुक्त अंशों को उद्धृत कर गांधीजी के अविभाज्य, संश्लिष्ट विचार को किसी एक अथवा अन्य पक्ष पर अति बल देने की बात केवल गांधीजी के आलोचकों तक ही सीमित नहीं रही। उनके कुछ अनुयायियों के साथ भी यही बात हुई। इन लोगों की अपनी-अपनी पसंद भी पहले से निश्चित थी। अतएव ये लोग गांधीजी के उपदेशों के उन्हीं पहलुओं पर बल देते हैं जिनसे उनको अपनी पसंदगी को बल मिलता हो, और इस तरह गांधीजी के उपदेश पक्षपातपूर्ण और संकीर्ण लगते हैं। वे समझते हैं कि वे इस तरह अपने गुरु की सेवा कर रहे हैं।

अतएव, अगर गांधीजी के विचारों के साथ उचित न्याय किया जाना है तो इसे इसकी सम्पूर्णता में तथा इसे तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। जहां कहीं भी किसी स्थान या समय पर अति-बल दिया गया हो, उसे कम करना होगा ताकि

गांधीजी के तमाम विचारों को उनकी सम्पूर्ण विचार-योजना और दर्शन के साथ समुचित संबंध स्थापित किया जा सके। किसी जगह अथवा स्थान पर अगर आवश्यकता से कम बल दिया गया हो तो उसे स्पष्ट तौर पर कहना होगा। कभी-कभी उनके विचार एवं अभिव्यक्ति की सम्पूर्ण योजना से संगति बिठाने के लिए रिक्त स्थानों को भरना होगा। अधिकतर, एक सामान्य सिद्धान्त की स्थापना करने के लिए 'स्थानीय रंग' को मिटाना होगा। और सबसे मुख्य बात तो यह है कि गांधीजी के समस्त विचारों को उनके स्वयं के आचरण और जीवन से जोड़ना होगा।

मौलिकता का कोई दावा नहीं :

गांधीजी के विचार एवं खयाल नए एवं क्रांतिकारी हैं, किंतु फिर भी वह अपने संबंध में मौलिकता का कोई दावा नहीं करते वह अक्सर यह कहते हैं कि जहां तक उनके अपने विचारों का प्रश्न है, वह केवल प्राचीन भविष्यद्रष्टाओं के पद-चिह्नों का अनुसरण कर रहे हैं और नियम तथा आदेशों का पालन करने भर की कोशिश कर रहे हैं, और दुनिया को कुछ भी नया नहीं दे रहे हैं। यह बात महज गरिमा से नहीं कही गई। गांधीजी अगर मौलिकता का दावा नहीं करते तो वह अपने देश की प्रतिभा के अनुसार ही कार्य करते हैं। भारत के महापुरुषों में शायद ही किसी ने अपनी मौलिकता का दावा किया हो। उनके सारे विचारों का स्रोत प्राचीन परम्परागत और प्रतिष्ठित आप्तवचनों में ढूंढ़ा जा सकता है। अधिकतर जिन्होंने इस तरह नए विचारों को प्रस्तुत किया उनके नाम ही ज्ञात नहीं हैं। ऐसी मान्यता है कि पुरातन काल से ही ये नए विचार चले आ रहे हैं। साधारणतः भारतीय प्रतिभा ने निर्वैयक्तिक ढंग से अपना नाम ज़ाहिर न करते हुए ही काम किया। विचारों के संबंध में जो कुछ भी मौलिकता थी और उस क्षेत्र में जो भी कुछ योगदान था, वह जातिगत था, वैयक्तिक नहीं। सौंदर्य क्षेत्र तक में भी यह मान्यता थी कि कलाकार अनेक वर्षों से स्थापित और प्रतिष्ठित तरीकों तथा परम्पराओं के दायरे के भीतर ही काम करेगा। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि तब भी कलाकार सौंदर्य के ऐसे नए रूपों की सृष्टि कर सका जो सर्वथा आनंद की वस्तु है। किंतु परम्परागत होना उतना वास्तविक नहीं जितना वह लगता है। आज कोई भी भारतीय विचार में युगों से विकसित होते आए विचारों को देख सकता है। नए विचार और वैचारिक रूप परिव्याख्या एवं भाष्यों के नाम पर, धीरे-से सम्मिलित कर लिए गए। अत्यंत मौलिक

और क्रांतिकारी विचारक अपने को केवल टीकाकार ही मानते थे, जो पुरानी परम्पराओं को आगे बढ़ानेवाले तथा एक अविच्छिन्न निरंतरता को सुरक्षित रखनेवाले थे। प्रत्येक विचार और संस्था, उनके अनुसार, 'पुरातन' और 'सनातन' थी, पुरानी और शाश्वत थी।

भारतीय विचार का स्वरूप :

भारतीय प्रतिभा प्रधानतः रचनात्मक है। वह नकारात्मक नहीं है; वह बिना किसी को नष्ट किए निर्माण करती है। जो कुछ पुराना पड़ जाता है, अनुपयोगी और व्यर्थ हो जाता है उसे समय नष्ट कर देता है। यों देखने से लग सकता है कि अनेक शताब्दियों के बीच भी भारत ज्यों का त्यों रहा है। परंतु इस ऊपरी तादात्म्य के पीछे गहरे परिवर्तन हुए हैं भले ही वे दृश्य न हों। जैसा कि मैंने कहा है, भाष्यों और परिव्याख्याओं के ज़रिए ही ये परिवर्तन लाए गए। इस तरह के परिवर्तन के घटने में समय अवश्य लगता है, किंतु प्रत्येक विचार और संस्था को अपना मूल्य सिद्ध करने का मौक़ा मिलता है। अधिकतर ऐसे ही अंग केवल बाहर कर दिए जाते हैं जो अनुपयोगी और अफलदायक हों। जो कुछ भी अच्छा है वही रह जाता है। इस तरह की विकासात्मक प्रक्रिया उनके ही असली अस्तित्व को सुरक्षित रखती है जो सबसे अधिक योग्य हैं; किंतु हर अच्छी चीज़ की तरह उसके भी कई नुकसान हैं। कभी-कभी पुरानी खराबियाँ बहुत लंबे समयों तक इसके द्वारा क़ायम रह जाती हैं।

गांधीजी ने पुराने गुरुओं के ढंग पर ही कार्य किया। अस्पृश्यता का निवारण हिंदू समाज में एक बड़ी क्रांति है। परंतु गांधीजी प्राचीन विश्वास की शुद्धता के नाम पर उसका समर्थन करते हैं। उसके निवारण के पक्ष में अत्यंत प्राचीन परम्पराओं के आप्त-प्रमाण उपलब्ध होने का वह दावा करते हैं। और भले ही वह ऐसा करें, किंतु वेदों अथवा उपनिषदों में अस्पृश्यता का कहीं नाम नहीं है। उस ज़माने में अस्पृश्यता नहीं थी। यहाँ तक कि जाति-व्यवस्था में भी, जो बाद में विकसित हुई, हरिजनों की अलग कोई पाँचवीं जाति नहीं थी। गांधीजी के लिए सत्य और अहिंसा भी पर्वतों—जितने प्राचीन थे। वह हममें यह विश्वास पैदा करना चाहते हैं कि सामान्यतः राजनीति और सामूहिक जीवन में इन सिद्धान्तों के उपयोग का तरीक़ा भी पुराना है। वह सिर्फ़ इस बात भर का दावा करते हैं कि वे इन सिद्धान्तों का कुछ अधिक बड़े क्षेत्र में एक नयी समस्या का समाधान प्रस्तुत करने के लिए करते हैं, जो समस्या आधुनिक विज्ञान और टेकनालाजी

द्वारा हिंसा के अधिक खतरनाक और निरंतर संख्या में बढ़ते हुए हथियारों के आविष्कार के कारण उत्पन्न हुई। आज के केन्द्रीयकृत मशीनी बड़े उद्योग के युग में भी कुटीर उद्योग और ग्रामोद्योग की योजना, सचमुच ही, अपनी नई क्रियान्विति और निहित अर्थों के बावजूद भी, पुरानी है। बेसिक शिक्षा सब प्रकार की शिक्षा-पद्धति की तह में है। मानवता द्वारा सब ज्ञान निरीक्षण, क्रिया प्रयोग के द्वारा प्राप्त किया गया।

यह सब आधुनिक तरीके और आधुनिक भावना के अनुकूल नहीं है। आधुनिक बुद्धि जो नया नहीं है उसको महत्व नहीं देती। इसलिए प्रत्येक लेखक, दार्शनिक तथा वैज्ञानिक अपने संबंध में मौलिकता का दावा करते हैं। जितना अधिक बल देकर वह इस प्रकार का दावा करते हैं, उतना ही अधिक ज़ोर देकर उसके प्रतिरोधी उसे गलत बताते हैं। विद्वानों के बीच इस तरह के वैचारिक विरोध में अधिकतर कटुता-विद्वेष होता है और उसमें विद्वता और विज्ञान की निरी तटस्थता नहीं होती। केवल व्यक्ति ही नहीं, राष्ट्र तक इस अवांछित वैचारिक विरोध में भाग लेते हैं। प्रत्येक राष्ट्र अनुसंधान के क्षेत्र में आगे होने का दावा करता है। एक दूसरे का विरोध करने वाले यह भूल जाते हैं कि सत्य, चाहे वह कितना ही पुराना क्यों न हो, कभी बासी नहीं होता। वह नित नया और क्रांतिकारी होता है। यदि कहीं सत्य बासी हो सकता अथवा पुराना पड़ सकता तो समस्त प्राचीन विचार और ज्ञान का कोई मूल्य नहीं रहता, या वह नष्ट हो रहता, या फिर उसका ऐतिहासिक मूल्य ही सिर्फ रह जाता।

गांधीजी द्वारा (अपने संबंध में) मौलिकता का निषेध आधुनिक व्यक्ति के मन में संशय उत्पन्न करता है। विद्वज्जन ऐसा सोचने लगते हैं कि वह कुछ अति पुराने व त्यक्त विचारों अथवा वैचारिक संस्था को जन-सामान्य पर मढ़ते हैं। तथाकथित उग्रवादियों की भाषा में, वह प्रगति की घड़ी के कांटों को पीछे घुमाने का प्रयास करते हैं। उनका ऐसा मत है कि वह जिस बात का प्रतिपादन करते हैं उसका प्रयोग पहले कई बार किया जा चुका है और उसमें खामियां पाई गईं। गांधीजी के विचार की तह में जो क्रांतिकारी उद्देश्य एवं भावना थी, उसे इन लोगों की आलोचना नहीं पकड़ सकती। उसका स्वरूप पुराना ज़रूर है, परंतु भावना, उद्देश्य एवं क्रियान्विति का तरीका नया है। कोई विशिष्ट क्रिया जो उनके द्वारा की गई वह उतनी क्रांतिकारी नहीं है जितनी क्रिया के पीछे कार्य करनेवाली इच्छा क्रांतिकारी है ; वह भावना और उद्देश्य क्रांतिकारी हैं जो क्रिया को प्रेरित करते हैं और जिसके बल पर कार्य किया जाता है। अस्पृश्यता का निवारण, कुटीर-उद्योग का प्रतिपादन, मद्यनिषेध सभी तो समाज-सुधार के पुराने विषय हैं। पुराने एवं नए सामाजिक एवं धार्मिक सुधार-आंदोलनों द्वारा वे प्रतिपादित किए जा चुके हैं। गांधीजी ने उनको केवल गतिशील बनाया

और भारत में अपेक्षाकृत अधिक न्याय-संगत और अपेक्षाकृत अधिक आर्थिक समानता वाली सामाजिक व्यवस्था क़ायम करने वाले एक बड़े आंदोलन का उन्हें अंग बनाया। इसलिए वे अब पाक्षिक और नितान्त असम्बद्ध क्रियाएँ नहीं रहीं, राष्ट्र के स्वास्थ्य एवं विकास के लिए वे अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इस तथ्य ने उनको क्रांतिकारी स्वरूप प्रदान किया। वे केवल पुरानी क्रियात्मक इच्छाओं अथवा पुरानी मानसिकता की पुनरावृत्ति नहीं करतीं। उदाहरणार्थ, उनके द्वारा कुटीर एवं ग्राम-उद्योगों के प्रतिपादन का यह अर्थ नहीं था कि 'औद्योगिक क्रांति' के पहले जो वैज्ञानिक व तकनीकी ज्ञान हमें प्राप्त था, उसके दायरे के भीतर ही रहकर हम जो उत्पादन कर सकें उससे ही हमें संतुष्ट रहना चाहिए। भारत की तत्कालीन विशिष्ट परिस्थितियों में उनके द्वारा केन्द्रीयकृत मशीनी बृहत् उद्योग की तुलना में कुटीर एवं ग्रामीण उद्योगों के समर्थन का एक विशेष उद्देश्य था। यह उद्देश्य भारत के बेरोजगार तथा कम पैसा पाने वाली भारत की भूखी जनता को काम दिलाना था। यह एक नया राष्ट्रीय तथा परोपकारी उद्देश्य था; पश्चिम की कष्टप्रद बेकारी के स्थान पर यह अच्छा क़दम था। इसलिए इसे पिछड़ा हुआ, पुनरुत्थानवादी क़दम नहीं कहा जा सकता।

अभिव्यक्ति के रूप :

गांधीजी में मौलिकता के समस्त दावों के निषेधीकरण की जो प्रवृत्ति थी उसका घनिष्ठ संबंध उनकी उन आदतों से था जिनके कारण वे अपने क्रांतिकारी विचारों एवं कार्यों के लिए पुरानी शब्दावली एवं मुहावरों का प्रयोग करते थे। वे विदेशी और तकनीकी शब्दावली से बचते हैं। आज तो शिक्षित भारतीय मन पाश्चात्य विचार और पाश्चात्य भाषा-रूपों का अनुकरण करता है। अपने स्वीकार किए जाने की सम्भावना के पहले ही, न केवल विचारों को अपितु उस शब्दावली को भी जिसमें वे विचार अभिव्यक्त होते हैं, आधुनिक लगना चाहिए। यह बिल्कुल ठीक है कि जिस तरह बुनाई पश्चिम को सुसंस्कृत महिलाओं के बीच फ़ैशन है, चाहे वह कभी-कभी कितना ही अनुपयोगी क्यों न हो, उसी तरह चर्खा भी उसी मात्रा में फ़ैशन हो सकता तो धनी-वर्ग द्वारा उसके अपनाए जाने की संभावना, आज की तुलना में, अधिक थी। आखिर भारत के अधिकांश हिस्से की गर्म जलवायु और बेरोज़गारी के पैमाने को देखते हुए, चर्खा ही तो व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के लिए बुनाई की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। अगर गांधीजी ने राजनीति-संबंधी अपनी रचनाओं में 'अहिंसा' और 'सत्य' शब्दों का प्रयोग करने के बजाय, जिनके साथ नैतिक

एवं आध्यात्मिक प्रसंग जुड़े हुए हैं और जो जन-साधारण की बुद्धि द्वारा आसानी से समझ लिए जाते हैं, 'निरस्त्रीकरण' और 'प्रत्यक्ष कूटनीति' जैसे शब्दों का प्रयोग किया होता तो आधुनिक बुद्धि उन्हें अधिक ठीक से समझ पाती। उस स्थिति में, वह एक व्यवहारकुशल राजनीतिज्ञ होते। अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए कर्मरत होने का वह प्रमाण दे सकते थे। वह नोबल पुरस्कार तक जीत सकते थे। राष्ट्रपति विल्सन ने अपनी सुविख्यात १४ बातों में निरस्त्रीकरण और प्रत्यक्ष कूटनीति का प्रतिपादन किया। किसी ने उनपर रहस्यवादी होने अथवा अव्यावहारिक होने का आरोप नहीं लगाया। सार्वभौमिक निरस्त्रीकरण तथा प्रत्यक्ष कूटनीति साम्यवादियों का दावा वैज्ञानिक एवं वस्तुपरक होने का है। खास अन्तर शब्दावली के प्रयोग में है। बौद्धिक विश्लेषण की दृष्टि से निरस्त्रीकरण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अहिंसा के अलावा क्या है? यह आशा नहीं की जा सकती कि बिना शस्त्रों के अन्तर्राष्ट्रीय हिंसा अथवा युद्ध होंगे। आज की लड़ाइयाँ मुट्ठियाँ बाँधकर नहीं लड़ी जा सकतीं और न पुरानी लड़ाइयाँ ही ऐसे लड़ी गईं। और प्रत्यक्ष कूटनीति, अगर अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में वह सत्य-पालन नहीं तो और क्या है? किंतु, संभवतः अंतर इस बात में है कि गांधीजी राजनीति में जब इन उद्देश्यों को रखते हैं तब वह उनको गंभीरता से लेते हैं। इसके विपरीत व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञ उन उद्देश्यों की चर्चा उनके वास्तविक अर्थों को त्यागकर और राष्ट्रीय नीतियों को उनके अनुकूल व्यवस्थित करते समय करते हैं।

फिर गांधीजी ने ग्रामीण व कुटीर उद्योग जैसी पदावली का प्रयोग न करके, जिसका अर्थ जनसामान्य समझते हैं, अगर 'औद्योगिक विकेन्द्रीयकरण' पद का इस्तेमाल किया होता तो शिक्षित वर्ग संभवतः उसे अधिक अच्छी तरह समझ सकता। उनकी नयी शिक्षा-योजना, जैसा रूस में है, बेसिक शिक्षा के स्थान पर बहुतकनीकीकरण कहलाती तो संभवतः शिक्षित वर्ग उसे ज्यादा अच्छी तरह ग्रहण कर सकता। यह कहा जाता है कि शब्द एक बुद्धिमान व्यक्ति के विनिमय-वातायन हैं, किन्तु बेवकूफों का वह पैसा है।

गांधीजी लेखक के रूप में—पुराने व नए शब्द :

गांधीजी ने, लेखक के रूप में, अपनी मातृभाषा गुजराती में, और अंग्रेजी तक में, अपनी एक विशिष्ट शैली साहित्य में कायम की। वह चुस्त, सरल और साफ है। वह मितव्ययी है। गांधीजी शायद ही कभी किसी शब्द का प्रयोग करते हैं जो अनावश्यक है अथवा जो महज भाषा को अलंकृत करने के लिए है। प्रायः जो कुछ भी उन्होंने लिखा

वह गरीबों और गिरे हुए लोगों के हित से संबंधित है। उन्होंने देवताओं, शासकों, राजाओं, राजकुमारों और कुलीनतंत्रियों पर कोई—कहानियां, उपन्यास, कविताएँ अथवा नाटक नहीं लिखे। अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण के बावजूद भी उन्होंने किसी विशेष धर्म अथवा संस्था के सिद्धान्तों और दृढ़ विश्वासों का आग्रह लेकर कभी कोई बात नहीं की। किन्तु फिर भी तथाकथित प्रगतिशील लेखकों की विचार-सभाओं में उनके नाम का जिक्र नहीं किया जाता। वे पुराने दस्तावेज ढूंढ़ते हैं और अगर कहीं उन्हें कोई ऐसा कुलीनतंत्रीय लेखक मिल जाता है जिसने गरीबों के हित में कहीं कोई बात कही है तो वे उसकी गणना अपने लोगों में ही करते हैं। कुलीनतंत्रीय प्रगतिशील लेखकों के इस गुट से गांधीजी अलग हैं। यह पूर्णतया पूर्वाग्रह के कारण अथवा राजनीतिक व सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण नहीं है। यह मुख्यतः इस भाषा की अपनी विशेषता का कारण है जिसका प्रयोग गांधीजी गरीबों के हित का प्रतिपादन करने के लिए करते हैं। वह साम्यवादी अथवा समाजवादी की तथाकथित वैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग नहीं करते। वह न्याय और समता की स्थापना की बात कहते हैं। ये केवल राजनीतिक अथवा मात्र कानूनी नहीं है, अपितु वे नैतिक शब्द भी हैं। इनके मनोवैज्ञानिक निहित अर्थ भी है। समाजवादी और साम्यवादी शोषण, वर्ग-संघर्ष और वर्ग युद्ध की चर्चा करते हैं। वे ऐसा समझते हैं कि संसार की समस्त बुराइयाँ बाहरी व्यवस्था और संगठन द्वारा दूर की जा सकती हैं। यहां तक कि बुद्धि और हृदय का इलाज भी केन्द्रीयकरण शिविर (कन्सेन्ट्रेशन कैम्प) और बौद्धिक शुद्धिकरण (ब्रेनवाशिंग) से किया जा सकता है।

चूंकि गांधीजी सर्व-स्वीकृत भाषा का प्रयोग नहीं करते इसलिए उनकी गिनती प्रगतिशील लेखक के रूप में नहीं की जा सकती, जबकि कोई भी नवयुवक, जिसने दो-एक लेख नए राजनीतिक-आर्थिक प्रचलित शब्दों एवं मुहावरों का उपयोग करते हुए लिखे है—भले ही वह अपने द्वारा प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों के निहित अर्थों को वह पूरी तरह से न समझे—अपने को एक प्रगतिशील लेखक मान और कह सकता है और अन्य लोग भी उसे उसी रूप में ग्रहण कर लेंगे। ऐसे लेखक का अपने प्रगतिशील होने का दावा चाहे जो कुछ भी हो, उसके लेखक होने का दावा अधिकतर संदिग्ध है। वह तोते की तरह उन मुहावरों को दोहराता भर है जो आधुनिक शिक्षा और प्रगति के परिचायक हैं।

आधुनिक मस्तिष्क के लिए यह जरूरी है कि वह गांधीजी के विचार को समझने और उसका मूल्यांकन करने के पहले अपने को शब्दों की तानाशाही से मुक्त कर ले। इसलिए कभी कभी यह आवश्यक हो जाता है कि गांधीजी के विचारों का आज के शिक्षित वर्ग की

प्रचलित तकनीकी भाषा में अनुवाद किया जाए ताकि सम्प्रेषण की इस कठिनाई को कम किया जा सके।

एक उदीयमान व्यक्तित्व :

संसार की बड़ी प्रतिमाओं और अत्यंत बुद्धिवाले व्यक्तियों के बनाने में पालन-पोषण से कहीं अधिक प्रकृति का हाथ है। वे विशिष्ट योग्यताएँ, जिनके कारण वे बाद के जीवन में अन्य लोगों से भिन्न थे, जैसे उनमें जन्मजात थीं। जीवन के आरम्भिक काल में ही उन्होंने कुछ असाधारण शक्तियों का परिचय दिया जिनसे बाद के विकास की दिशा का पता चलता था। इसमें कोई संदेह नहीं कि ये मूलभूत योग्यताएँ शिक्षा, प्रशिक्षण और अनुभव के माध्यम से और भी विकसित की गईं। किंतु वे विशिष्ट योग्यताएँ जिनसे उनका कैरियर निश्चित होता था, उनमें उनके आरम्भिक वर्षों में ही प्रचुर मात्रा में देखी गईं। प्रकृति का स्वाभाविक योगदान शिक्षा और प्रशिक्षण से अधिक था। अपने जीवन में अपने लक्ष्य और कार्य के लिए कुछ महानता जैसे उनमें जन्मजात थी। उन्होंने अपने जीवन के आरम्भिक काल में ही विश्व के विचार एवं क्रिया को अपना महत्वपूर्ण योग दिया। जिन्होंने लंबी आयु पाई उन्होंने अपना सबसे महत्वपूर्ण योगदान अपने युवाकाल में ही किया। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, शंकर, रामकृष्ण, विवेकानन्द जैसे लोग इस श्रेणी में आते हैं। किन्तु यह बात नहीं कि केवल धर्म के क्षेत्र में ही इस तरह के व्यक्तित्व मौलिकता की अपनी जन्मजात प्रतिमा के कारण पनपे। रचनात्मक विचार और कार्य के अन्य क्षेत्रों में भी, कला दर्शन, विज्ञान, साहित्य और कुशल सैन्य संचालन में भी व्यक्ति के विकास के संबंध में हम वही बात देख सकते हैं।

आम मानवता से उत्पन्न :

गांधीजी ऊँचे लोगों की श्रेणी में नहीं आते। वह साधारण और औसत मनुष्यों के वर्ग के हैं, जिसमें से कभी-कभी अति-साधारण व्यक्तियों ने अपने चरित्रबल एवं आत्मबल के आधार पर, विकास की पीड़ामय प्रक्रिया के माध्यम से अपना विकास किया। अपने आरम्भिक जीवन काल में गांधीजी ने अपने भावी कार्य एवं लक्ष्य का कोई संकेत नहीं किया। जब वे विद्यार्थी थे तब उनमें कोई विशिष्ट योग्यता नहीं देखी गई, प्रतिमा तो खैर और भी नहीं थी। वह इंग्लैंड बार-एट-ला करने के लिए गए, जैसा उन दिनों किसी मध्यमवर्गीय परिवार

का कोई महात्वाकांक्षी नवयुवक करता। उनका दक्षिणी आफ्रिका जाना एक व्यावसायिक घटना (प्रोफेशनल एक्सीडेंट) थी जो किसी भी गुजराती युवा बैरिस्टर के साथ हो सकती थी, जिसके पास कोई मुकदमे न हों। वहां उनके लंबे प्रवास के पीछे कोई राजनीतिक उद्देश्य नहीं था। अपने आरम्भिक जीवन काल में जिस गुण के कारण उन्होंने विशिष्टता प्राप्त की वह उनका सच्चा स्वभाव, उनकी गहरी निष्ठा और ईमानदारी थी। वे कहते हैं : "मैं मूलप्रवृत्यात्मक रूप से ही सत्यवादी हूँ, किंतु अहिंसावादी नहीं। यह सच है कि मैंने सत्य की खोज करते हुए अहिंसा को ढूँढ़ा है।" इसके साथ हो उनमें कड़ा परिश्रम कर सकने की सामर्थ्य एवं छोटी-छोटी बात पर ध्यान दे सकने की क्षमता थी। अपने युवाकाल में उन्होंने धर्म के प्रति कुछ सीमा तक तीव्र उत्कण्ठा प्रदर्शित की। परंतु यह उस समय के एक शिक्षित नवयुवक के लिए स्वाभाविक था। भारत उस समय पश्चिम के तथा ईसाइयत के सम्पर्क में होने के कारण एक तरह के धार्मिक उथल-पुथल में था जिसके परिणाम स्वरूप कई धार्मिक आंदोलन हुए।

निरन्तर विकास :

अपने व्यावसायिक कार्य में वकील की हैसियत से गांधीजी ने अति उच्च नैतिक मापदण्डों का पालन किया। अधिकतर वे इसके परे भी चले जाते। जब तक किसी मामले के न्यायोचित होने की बात से वह संतुष्ट नहीं हो जाते वे उसे स्वीकार नहीं करते थे। वे अपने मुवक्किलों को संतोष देने की पूरी कोशिश करते थे। वे कचहरी के बाहर अपने झगड़ों को तय कर लेने की प्रेरणा उनको दिया करते और इस प्रकार उन्हें स्वयं बहुत पैसे का नुकसान हो जाता था। इस तरह अपने मुवक्किलों के वे प्रिय हो गए। उनमें से बहुत से अपने निजी मामलों में भी उनका विश्वास करने लगे। ये मुवक्किल अपेक्षाकृत अधिक धनी भारतीय व्यापारी थे। दक्षिण आफ्रिका में अपने देशवासियों पर उनका थोड़ा प्रभाव था। उस समय संभवतः गांधीजी ही एकमात्र योग्य भारतीय वकील थे। अतएव उनसे सिर्फ़ कानूनी मामलों में ही नहीं बल्कि राजनीतिक मामलों में भी राय ली जाती थी। वहां पर भारतीय वर्ग, जैसा कि आज भी है, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा जातीय असुविधाओं और प्रतिबन्धों से त्रस्त था। पहले गांधीजी की राय वकील की हैसियत से ली गई। इससे वह राजनीतिक क्षेत्र में आ गए। एकबार उन्होंने जो राजनीतिक कार्य ले लिया, उसमें उन्होंने अपने चरित्र की जन्मजात ईमानदारी, अपने स्वभाव की तीव्रता, परिश्रम व अपनी चतुर बनिया व्यावहारिक योग्यता का निर्वाह किया। तब से उनका

व्यक्तित्व निरंतर और अनवरुद्ध रूप से विकसित होता रहा। उसका विकास कभी भी अवरुद्ध नहीं हुआ। यह उनका निरंतर विकास ही था जिससे उन्हें सदा नवयौवन मिला। दिन बदलते हैं और उनके साथ ही विचार, आदर्श और सोचने व कार्य करने के तरीके भी बदल जाते हैं। चढ़ती हुई उम्र की सबसे बड़ी कठिनाई इस बात में है कि वह समय के बदलाव के साथ चले; नए खून को समझे, उनके नए तरीकों, स्वप्नों और इच्छाओं का उचित मूल्यांकन करे और उनसे सहानुभूति रखे। गांधीजी किसी तरह हमेशा आधुनिक बने रहे। जहां तक मूल बातों का प्रश्न है गांधीजी अपने युग से हमेशा आगे रहे। इस बात के कई प्रमाण भी पाए गए। यह बात 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के समय अधिक स्पष्ट होकर सामने आई। उनके अत्यंत बहादुर एवं उग्र साथी भी इस कारण आश्चर्यान्वित थे। वैयक्तिक सत्याग्रह के सतर्क हिमायती, गांधीजी ने, जिनकी काम-रोकने की नीति की सभी तथाकथित वामपंथियों ने आलोचना की, एकाएक सारी झिझक छोड़ दी और बुद्धिमत्तापूर्ण सलाह पर कोई ध्यान नहीं दिया। उन्होंने अपने को तथा अपने देश को एक ऐसे आंदोलन में डाल दिया जिसमें देश के अति उग्रवादी, अत्यंत उत्साही क्रांतिकारियों के दिल भी दहल उठे। गांधीजी के शाश्वत यौवन का रहस्य नए खून के स्वप्नों और इच्छाओं को समझने में था। मेरा यह विचार है कि यह इसलिए संभव है कि गांधीजी अपने मूलभूत विचारों में समय से इतना अधिक आगे थे कि मनुष्यता को उनके बराबर आने में कई शताब्दियां तक लग सकती हैं। वे स्वर्ग को छूनेवाली लगती थीं। किंतु किसी तरह उन्होंने उनका इस तरह उपयोग किया कि वे व्यावहारिक बन गईं और उनके कुछ ठोस परिणाम भी निकले। ये मनुष्य स्वभाव की असंभावित संभावनाओं के प्रतीक हैं जिन्होंने द्रष्टाओं, सुधारकों और क्रांतिकारियों का युग-युग में मार्ग दर्शन किया है और प्रेरणा दी है। यह बात आज बहुत स्पष्ट है जबकि संसार आणविक युद्ध और आणविक विनाश की संभावना से त्रस्त है। आज की अपनी भयंकर कठिनाइयों में उनका विचारपूर्ण समाधान ढूंढ़ने का श्रेय गांधीजी को तथा उनके उपदेशों को है।

एक सर्जनात्मक कलाकार :

गांधीजी एक सर्जनात्मक कलाकार की तरह थे। जबतक कलाकार में सर्जनात्मक प्रतिभा रहती है तब तक वह जवान बना रहता है। गांधीजी अन्त तक सृजनशील रहे। १९४४ में जब गांधीजी अपनी गहरी अस्वस्थता के कारण जेल से बाहर आए तब उन्होंने

पूना में मुझसे कार्यकारिणी समिति की एक बैठक में कहा कि अभी वह चुके नहीं और मरने के पहले कम से कम एकबार अंग्रेजी शासन से फिर से युद्ध करना चाहेंगे।

गांधीजी का यौवन उनकी तीव्र विनोदप्रियता के कारण भी था। अत्यंत कठिन परिस्थितियों में भी वह उनसे अलग नहीं हुई। किसी विनोदी व्यक्ति के लिए कोई भी चीज बासी और एकदम साधारण नहीं होती। उसके लिए सभी परिस्थितियाँ कुछ नाटकीयता लिए हुए होती हैं।

गांधीजी की कुछ योजनाएँ अनेक वर्षों में परिपक्व हुईं। कुछ का प्रस्ताव उन्होंने अपने जीवन के बाद के वर्षों में परिपक्व विचार और अनुभव के बाद किया। उन्हें यह नहीं सूझा कि हाथ-करघा आकस्मिक और स्वाभाविक प्रेरणा भी हो सकती है। जब वे भारत लौटे और उसके कुछ वर्षों बाद तक घर-करघे का मतलब उनके लिए, जैसा कि आम तौर पर यूरोप में समझा जाता है, 'हाथ से बुना हुआ' था, न कि आवश्यक रूप से हाथ से कता हुआ। वे स्वयं भी उन दिनों वैसा कपड़ा पहनते थे। जब पहले-पहल उन्होंने साबरमती आश्रम में बुनाई की मशीन ईजाद की तब जिस धागे का उपयोग किया गया वह मिल का कता हुआ था। उन्होंने भारतीय ग्रामों की सामाजिक और आर्थिक दशाओं का निरीक्षण किया। वहाँ उन्होंने ग्रामवासियों की अज्ञानता, गरीबी और बेकारी देखी। उन्होंने वहां पर ग्रामीणों की भूमि का बहुत ही छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजन देखा। इन तथ्यों के निरीक्षण करने पर ही उनमें चर्खे का विचार पैदा हुआ। भारत के लिए एक राष्ट्रभाषा की योजना अंत तक उनमें विकसित और परिपक्व होती रही। उसकी आरंभिक स्थितियां किसी स्पष्ट विचार पर आधारित नहीं थीं। व्यावहारिक व सैद्धान्तिक कठिनाइयों पर विचार नहीं किया गया। इसका विचार उनमें तब पैदा हुआ जब वह दक्षिण आफ्रीका में थे जहां पर भारत के सभी भागों से आए हुए मजदूरों के बीच बातचीत एक तरह की हिन्दुस्तानी के माध्यम से होती थी। इस भाषाके दो साहित्यिक रूपों के अस्तित्व का स्पष्ट ज्ञान उन्हें नहीं था। एक सामान्य राष्ट्रभाषा के संबंध में आज जो कटुताभरा वैचारिक मतभेद है उसकी कल्पना वह नहीं कर सके। जब भाषा के दोनों रूपों की स्वभावगत कठिनाइयां धीरे धीरे उनके सामने आईं तब उन्होंने उन दोनों के संश्लेषण की बात सोची। इस विषय पर उनक आरम्भिक विचार एक सर्वसाधारण व्यक्ति की तरह ही थे।

बेसिक शिक्षा की उनकी योजना अनेक वर्षों के निरीक्षण, प्रयोग और अनुभव का परिणाम थी। उनका अहिंसा संबंधी विचार भी एक विकासशील प्रक्रिया के बीच से गुज़रा। प्रथम विश्वयुद्ध में उन्होंने लोगों को, जिनको इस बात में विश्वास था कि हिंसा एक अच्छे कार्य के

हित में उचित है, ब्रिटिश सेना में भर्ती होने की सलाह दी। उन्होंने स्वयं उनलोगों को सेना में भर्ती करने का बीड़ा उठाया। किंतु द्वितीय विश्वयुद्ध में उनका युद्ध के प्रति दृष्टिकोण आरंभ से ही भिन्न था। वह किसी भी रूप में उससे अपना संबंध नहीं रख सकते थे। यह बात नहीं थी कि भारत में ब्रिटिश-शासन के प्रति उनका रुख बदला हो। इसका कारण यह था कि अहिंसा-संबंधी उनके विचार में विकास हो पाया था। उनके अन्य विचार एवं योजनाएं भी बराबर परिवर्तित और विकसित होती रहीं। सच तो यह है कि जीवन भर उनका व्यक्तित्व बढ़ता और विकसित होता रहा।

समाज कल्याण के अर्थ में राजनीति :

अपने जीवन के उद्देश्य के प्रति उनकी चेतना धीरे-धीरे विकसित होती रही, और आरंभ में तो अज्ञात रूप में ही वह कार्य करती रही। एक विश्व-युद्ध होने के लक्ष्य की उनकी कोई कल्पना नहीं थी। चम्पारन में (१९१७ ई०) जहां यह कहा जा सकता है, कि उन्होंने अपना राजनीतिक जीवन शुरू किया, अपने साथियों से उन्होंने अधिकतर दक्षिणी आफ्रिका में प्रयोगों और अनुभव तथा सत्याग्रह के अपने नए तरीके के बारे में बातचीत की। उनकी यह बातचीत रोचक और शिक्षाप्रद थी। गांधीजी एक अच्छे कहानी कहनेवाले की तरह पूरी तटस्थता से ये बातें कहते थे। वे अपने पिछले अनुभवों के बारे में बतलाते थे, और शायद ही कभी अपनी भावी योजनाओं के संबंध में उन्होंने चर्चा की। भविष्य का मतलब उनके लिए तात्कालिक भविष्य था जो चम्पारन में उनकी योजना और समयसारिणी को तथा उनके आश्रम के विकास को किसी तरह प्रभावित करता था। उन दिनों उनमें इस बात का कोई स्पष्ट विचार नहीं था कि वे किस प्रकार भारतीय जन-जीवन में फिट हो सकेंगे। वे अपने आश्रम के संगठन में जुटे हुए थे, जिसके द्वारा वे अपने कल्पित रचनात्मक कार्यक्रम की दिशा में अपने प्रयोग करना चाहते थे। इसका स्वरूप राजनीतिक होने की अपेक्षा सामाजिक और शैक्षणिक अधिक था। उस समय वे राजनीति में डूबे नहीं थे। बल्कि, सामाजिक सुधार के माध्यम से वे राजनीति पर विचार किया करते। उन दिनों एक अवसर पर अहमदाबाद के विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने उन विद्यार्थियों को अहमदाबाद के अत्यंत गंदे खम्भों और गलियों को साफ करने की सलाह दी। उन्होंने कहा कि उसमें ही स्वराज है। 'स्वराज' के संबंध में उनके विचार में मूलतः कोई परिवर्तन नहीं आया क्योंकि उनका खयाल था कि उसका एक सामाजिक तत्त्व होना चाहिए और शक्ति का प्रयोग तभी

उचित होगा जब वह जनता के हित और विकास के लिए किया गया हो। उन्होंने शीघ्र ही यह समझ लिया कि अहमदाबाद के गंदे रास्ते और अन्य सामाजिक व आर्थिक बुराइयाँ जो हमारे देश में हैं, देश की राजनीतिक दासता से गहरे तौर पर सम्बद्ध हैं।

चूंकि गांधीजी का व्यक्तित्व बराबर पनपता रहा और विकसित होता रहा, और विकास की यह प्रक्रिया कभी भी अवरुद्ध नहीं हुई। उनको एक सर्वसाधारण पुरुष और स्त्री की संभावना पर इतना अधिक विश्वास था। उन्होंने यह कभी भी विश्वास नहीं किया कि अन्य लोग वह सब नहीं कर सकते थे जो उन्होंने स्वयं किया। वे कभी भी यह नहीं सोचते थे कि वे मानव-स्वभाव अथवा अपने देशवासियों से जो अपेक्षाएं रखते हैं, वे असम्भव हैं। वे अधिकतर यही बात जनता के बीच कहते थे। सन् १९४२ में वर्धा में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक में उन्होंने कहा, 'मैं तब ज़रा भी विचलित नहीं हुआ जब मौलाना ने मुझे आकाश की ऊँचाई तक पहुंचा दिया। मैं हवा में नहीं रहता। मैं पृथ्वी का आदमी हूँ। मैंने कभी कोई हवाई जहाज नहीं देखा। मैं आपकी तरह ही हूँ, एक मामूली-सा मिट्टी का बना हुआ इन्सान। ···अगर ऐसी बात न होती तो हम लोग इन बीस वर्षों तक साथ-साथ काम नहीं कर पाते। मौलाना ने मेरे लिए प्रशंसा के ये शब्द स्नेह के कारण कहे हैं, किंतु मैं उन्हें स्वीकार नहीं कर सकता। मुझे व्यंग में 'बनिया' कहा गया, और उसे मैं अपनी योग्यता का प्रमाण पत्र मानता हूँ।" आम मनुष्य के प्रति इस तरह का दृष्टिकोण उनकी प्रजातंत्रात्मक भावना का एक कारण भी है। सामान्यतः अति प्रतिभावाले कुलीनतंत्री होते हैं।

गांधीजी के व्यक्तित्व एवं विचारों का इतने वर्षों तक निरंतर विकास उनके विचारों को व्यवस्थित करने में कठिनाई उत्पन्न करता है। अधिकतर उनके दिशा देनेवाले विचारों को उनके असली रूप में समझना अथवा उनके अनेक सामयिक और विभिन्न परिस्थितियों में दिए गए वक्तव्यों के बीच संगति बिठाना आसान नहीं है। उनमें असंगतियां देखी जा सकती हैं। असंगति के आरोप का उत्तर देते हुए वे कहते हैं, "लिखते समय मैं कभी भी यह नहीं सोचता कि मैंने पहले क्या कहा था। किसी दिए हुए प्रश्न पर अपने पिछले वक्तव्यों से संगत रहना मेरा उद्देश्य नहीं है ; अपितु मेरा ध्येय सत्य से जैसा कि किसी क्षण वह मेरे सम्मुख आता है, बराबर संगत रहना है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मैं सत्य से सत्य तक की यात्रा करते हुए बढ़ता रहा हूँ। इस तरह मैंने अपनी स्मृति को अनावश्यक दबाव पड़ने से रोका है, और इससे भी बड़ी बात तो यह है कि मुझे जब कभी भी अपनी हाल की रचना से अपनी पुरानी, यहां तक पचास साल पुरानी, रचनाओं की तुलना करनी पड़ी, मैंने उन दोनों के बीच कोई असंगति नहीं देखी। किंतु मेरे मित्र जो असंगति देखते

हैं, अच्छा हो कि वे मेरी साम्प्रतिक रचनाओं का ही अर्थ ग्रहण करें जब तक वे मेरी पुरानी रचनाओं को ही अधिक पसंद नहीं करते। परंतु अपना चयन करने से पहले उन्हें यह देखने का प्रयास करना चाहिए कि कहीं इन विरोधाभासों के बीच कोई आधारभूत और शाश्वत संगति तो नहीं है।"

गांधीजी के व्यक्तित्व का निरूपण जिस विकासात्मक प्रक्रिया के माध्यम से हुआ, उसके कारण उनके आलोचकों के लिए यह आसान हो गया कि वे उनके कथनों की असंगतियों व विरोधों पर अधिक बल दें। एक सहानुभूति रखनेवाले समीक्षक के लिए भी, जो यह महसूस करता है कि विरोधाभास दूर किए जा सकते हैं, यह कार्य कठिन है। यह कठिनाई गांधीजी के विचार का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी के लिए ही केवल नहीं है। व्यावहारिक कार्यकर्ता भी, जिसे गांधीजी के विचारों को अपनाकर अपने कार्यक्रम की सभी बातों पर अमल करना है, इतनी उपेक्षा नहीं कर सकता। अधिकतर वह किसी पुरानी मिसाल को अथवा पहले अपनाए गए तरीके को अपना आदर्श मानकर अपना मार्गदर्शन करता है और अधिकतर वह पाता है कि वे ज़रूरी बातें जो उससे अपेक्षित थीं, उसने पूरी नहीं कीं। गांधीजी ने बदलती परिस्थितियों में नित नए और भिन्न तरीकों को अपनाकर सफलता प्राप्त की। अपने कार्यक्रमों में शायद ही कभी उन्होंने अपने को दोहराया। सत्याग्रह के विभिन्न आंदोलनों में जिस योजना और तकनीक का उन्होंने उपयोग किया वे एक-सी नहीं थीं। एक अत्यंत गतिशील और प्रगतिशील व्यक्ति के लिए, जो जीवन के विभिन्न कार्यक्षेत्रों में सोचता और कार्य करता है, यह बिल्कुल स्वाभाविक है।

गांधीजी के प्रस्तुतीकरण में संक्षिप्तता :

क्या गांधीजी ने अपने विचार की असंगतियों और कभी-कभी व्यवहार के विरोधों में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास नहीं किया? उन्होंने इस दशा में कोई गंभीर प्रयास नहीं किया। जब कभी भी उन्होंने ऐसा किया भी तो उनको बौद्धिक व्याख्याएं अथवा स्पष्टीकरण तर्क-सम्मत नहीं लगे। गांधीजी बहुत ही कम शब्दों का उपयोग करते थे, यद्यपि जो भी बातें उन्होंने सामने रखीं उनकी सतर्क और विस्तृत व्याख्या आवश्यक थी। अधिकतर उनकी व्याख्याएं समस्याओं के प्रति उनके विशिष्ट दृष्टिकोण से प्रभावित थीं। उनके आधारभूत मूल्य आध्यात्मिक और नैतिक थे। इनसे जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी उनका दृष्टिकोण प्रभावित हुआ। आज तो नैतिक व आध्यात्मिक मूल्य प्रायः नहीं रह गए। उन

पर संदेह किया जाता है। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं की, जैसी गांधीजी ने की, उससे कहीं अधिक वैज्ञानिक और विस्तृत व्याख्या उनकी की जानी चाहिए। न केवल प्रारम्भिक व्याख्याएं संक्षिप्त हैं, बल्कि आलोचना के उत्तर भी बहुत संक्षेप में हैं। चूंकि अधिक पढ़ने का अवकाश उन्हें नहीं मिल पाता था इसलिए अपने और अपने विचारों के खिलाफ़ बहुत-सी आलोचनाओं पर उनका ध्यान नहीं गया। उनको विश्वास था कि अपने कार्य और उसके व्यावहारिक परिणामों से, मात्र शब्दों से नहीं, दूसरों में निष्ठा पैदा होगी। जिस किसी आलोचना पर उन्होंने ध्यान दिया वह उन व्यक्तियों द्वारा की गई—जिन्हें गांधीजी गंभीर व्यक्ति मानते थे। परंतु तब भी उनकी व्याख्या अव्यवस्थित थी। गांधीजी ने कभी भी विद्वेषपूर्ण कुछ नहीं लिखा और न पैम्फलेटबाजी की। उन्होंने अपने विचारों को उचित ठहराने के लिए केवल संक्षिप्त उत्तर दिए। वह कभी भी कोई तर्क विरोध में नहीं देते थे। उनके खयाल में अपने दृष्टिकोण को तर्कसम्मत ठहराना उपयोगी और अधिक अच्छा तरीका था। किंतु वैचारिक मतभेद में कुछ प्रासंगिक बातें अधिकतर और भी सशक्त रूप में सामने आती हैं जब विरोधी के विचारों की आलोचना की जाती है। विचार प्रायः असमानता और सादृश्य बतलाने पर अधिक स्पष्ट होते हैं। गांधीजी के पास लंबी तर्क-बहसों के लिए न तो समय था, और न प्रतिभा ही। अपने आलोचकों और विरोधियों के प्रति भी उनमें सदाशयता थी। चम्पारन-जाँच में गांधीजी के साथियों ने, जिनमें कुछ प्रतिष्ठित वकील थे, बागानवालों के मामले की कमज़ोरियों पर ध्यान आकर्षित किया और बागानवालों के साक्षियों के प्रति-परीक्षण का सुझाव दिया। परंतु गांधीजी ने इन सुझावों से कभी भी फ़ायदा नहीं उठाया। वे ऐसे प्रति-परीक्षण के खिलाफ थे जो बागानवालों को एक तरह की असमंजस की स्थिति में डाल दे। वे उनका सद्भाव और उनसे मैत्री चाहते थे। वे यह जानते थे कि वे यह सब नहीं पा सकते अगर कड़े प्रति-परीक्षण द्वारा उनकी स्वीकारोक्तियों से उनके किए कार्यों को बतलाकर उनकी अवमानना की जाए। वे अधिकतर कड़ी, और कभी-कभी तो निर्मम आलोचना के शिकार हुए। आलोचना का उत्तर न देना उनका सामान्य नियम था। उन्होंने कभी भी विरोधियों के पक्ष का अथवा उनके दर्शन का विश्लेषण नहीं किया। यह बात नहीं थी कि उनकी आलोचना नहीं की जा सकती थी—भला कोई भी पक्ष ऐसा हो सकता है जिसकी आलोचना कुछ सफलता के साथ एक चतुर वकील न कर सके? —परंतु उन्होंने अगर ऐसा नहीं किया तो इसलिए कि वह उनका अहिंसा का तरीका नहीं था। मुस्लिम लीग और ब्रिटिश सरकार दोनों के प्रति गांधीजी का एक-सा ही रुख था। अधिकतर उनके पास ऐसे दस्तावेज़ थे कि जिनके प्रकाशित किए

जाने पर जनता का आक्रोश उभरता और महत्वपूर्ण पार्टियों और व्यक्तियों की प्रतिष्ठा को धक्का पहुंचता, किंतु उन्होंने किसी मौक़े का फ़ायदा उठाने के खयाल से उन्हें कभी भी प्रकाशित नहीं किया। अपनी आत्मकथा में उन्होंने वे बातें समाविष्ट नहीं कीं जिनसे उनके कुछ साथियों और विरोधियों के कार्यों का भंडाफोड़ होता। अपनी आत्मकथा को आज की तारीख तक न लिखने का मुख्य कारण यही था ; अन्यथा उनको कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों के बारे में—जिनमें कुछ की हाल में मृत्यु हुई और कुछ आज भी जीवित हैं—लिखना पड़ता और उनकी आलोचना करनी पड़ती तथा उनके कृत्यों का भंडाफोड़ करना पड़ता।

जब कभी गांधीजी ने किसी कार्य के किए जाने को उचित ठहराया तब उनके बौद्धिक तर्क उस बात के साथ पूरा न्याय नहीं कर सके जिसका वह प्रतिपादन कर रहे थे। यों उनके निर्णय और कार्य करने का तरीक़ा अधिकतर सही था। किंतु एक अति-प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति की तरह वे अधिकतर उन निर्णयों और कार्यों तक अपनी अन्तश्चेतना के सहारे पहुँचते थे, तर्क-प्रक्रिया द्वारा नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने जो तर्क उनको सही सिद्ध करने के लिए दिए वे ठीक नहीं लगते थे अथवा दोषयुक्त होते थे। अधिक से अधिक वे गढ़े हुए तर्क मालूम होते थे जिनपर पहले कभी विचार ही नहीं किया गया। उनके बीच जबर्दस्ती कायम किया हुआ, बहुत दूर का संबंध लगता था। बहुधा कोई व्यक्ति ऐसा महसूस करता था कि औचित्य को स्थापित करने के लिए इससे अच्छा तर्क दिया जा सकता था। किंतु दूसरी ओर, कुछ अवसरों पर गांधीजी की तर्क-प्रक्रिया एक प्रतिष्ठित और चतुर वकील के तर्क जैसी लगती है, जिसके कारण कभी कभी उनके विरोधी उन्हें अत्यंत कूटनीति-पूर्ण राजनीतिज्ञ समझते थे।

निर्णय और तर्क-प्रक्रिया के बीच सम्पर्क-सूत्र

कभी कभी प्राकृतिक दुर्घटनाओं के लिए भी वे नैतिक तर्क दिया करते थे। यह आधुनिक वैज्ञानिक बुद्धि की बौद्धिक व्याख्या की कल्पना के प्रतिकूल है। सन् १९३४ में उन्होंने सत्याग्रह आंदोलन के रोक दिए जाने का सुझाव जिस आधार पर दिया वह कोई भी नहीं समझ सकता था और न उससे सहानुभूति ही रख सकता था। उनके एक आश्रमसाथी ने, जिसपर उनको बड़ा भरोसा था, जेल के अधिकारियों द्वारा निर्धारित दैनिक कार्य नहीं किया। जब उन्हें यह बात मालूम हुई तो उन्हें बड़ा धक्का लगा और वह यह सोचने लगे कि अभी भारत की जनता इस लायक़ नहीं है कि वह उस कड़े अनुशासन का पालन

कर सके जो एक अहिंसात्मक आंदोलन की सफलता के लिए ज़रूरी है। उनका कहना तर्क-सम्मत नहीं था, क्योंकि कभी भी ऐसा नहीं हुआ कि हमारे अच्छे से अच्छे देशभक्तों ने जेल के नियमों का पूरी तरह से पालन किया हो। इस बात पर विश्वास करना बड़ा मुश्किल है कि अपने साथियों के व्यावसायिक उद्देश्य और व्यवहार के बीच विरोध उन्होंने पहले-पहल ही देखा था। यह बेवकूफी की बात भी लगती थी कि किसी व्यक्ति द्वारा कार्य न करने का एक उदाहरण ही राष्ट्रीय सत्याग्रह आंदोलन को रोक देने के लिए पर्याप्त कारण है। उनका तर्क ठीक नहीं लगता। किंतु फिर भी राजनीतिक दृष्टि से उस समय आंदोलन का स्थगित किया जाना एक अच्छा और बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय था। उस समय जो स्थिति थी उसमें बहुत सी ऐसी दशाएं थीं और बहुत से ऐसे राजनीतिक कारण थे कि जिनके आधार पर निर्णय को उचित ठहराया जा सकता था। निर्णय यद्यपि सही था तथापि उसके समर्थन में जो तर्क दिया गया, यदि वह पूरी तरह गलत नहीं था तो कम से कम अपर्याप्त ज़रूर था।

बिहार में जो बड़ा भूकम्प आया उसके बारे में उन्होंने बड़ी गंभीरता के साथ लिखा कि भूकम्प का आना और उसके फलस्वरूप मनुष्य का दुःख भोगना, बिहारियों के पुश्त-दर-पुश्त अस्पृश्यता के अपराध के कारण है। इससे बुद्धिवादियों को यहां तक आघात पहुँचा कि कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस वक्तव्य का विरोध आम जनता के बीच में किया। मानवता, कम से कम भारत में, अभी वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं अपना सकी है कि वह मानव दुःख के किसी भौतिक अवसर अथवा अन्य कारण को उसका निमित्त कारण ही मान ले; और यह माने कि मानव-दुःख और मानव-विकृति तथा असमानता के बीच कोई घनिष्ठ संबंध नहीं है। किंतु मनुष्यों के बीच किसी एक असमानता को किसी विशेष प्राकृतिक दुर्घटना का कारण बतलाना एक अनुचित मान्यता है। ऐसा प्रतीत होता था जैसे गांधीजी ईश्वर के विशेष कृपा-पात्र थे। उस अवसर पर अधिक से अधिक जनता का इसी बात पर ध्यान दिलाया जा सकता था कि भूकम्प के कारण प्राप्त दुःख अन्याय व असमानता के संचित कर्म का परिणाम था और भविष्य में वैसा आचरण नहीं किया जाना चाहिए।

कभी-कभी गांधीजी ने सामाजिक अथवा राजनीतिक अवांछनीय कार्यों को पापमय कहा। विदेशी कपड़ा पहनना पाप है; विदेशी अदालतों में वकालत करना पाप है। विदेशी संस्थाओं में अध्ययन करना पाप है; अपने देश में विदेशी सत्ता द्वारा स्थापित विधान-सभाओं में बैठना पाप है। इन सभी बातों पर अमल न करना सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक कारणों के बल पर व्यक्ति अथवा राष्ट्र के लिए अहितकर बतलाया जा सकता है;

किंतु उन्हें पाप कहने का मतलब प्रस्थापनाओं के तार्किक आधार को न पहचानना है जो निरीक्षित तथ्यों एवं तार्किक परिणामों पर निर्भर है।

मेरा एक भाई सन्यासी है जो गांधीजी के साथ कुछ समय तक साबरमती में रहता था। वह खादी नहीं पहनता था। सच तो यह है कि उसे इस बात से कोई मतलब ही नहीं था कि वह क्या पहनता है अथवा खाता है अगर उसका खाना निरामिष हो। वह ईश्वर का सच्चा भक्त था। एक दिन मैंने आश्रम के एक रूढ़ खयाल रखनेवाले सदस्य से कहा कि खादी न पहनना भला कैसे पाप हो सकता है। मैं यह कैसे मान लेता कि ईश्वर का कोई-सच्चा भक्त पापी हो सकता था सिर्फ इसलिए कि वह खादी नहीं पहनता था। मुझे तात्कालिक उत्तर मिला "हमें यह नया पाप रचना होगा।" मैंने कहा : "इस दुनिया में यों ही बहुत से पाप हैं। और नए पापों को रचने की कोई आवश्यकता नहीं।"

यह ग़नीमत है कि गांधीजी के लिए ये पाप घातक नहीं थे, अपितु क्षम्य थे और समय-समय पर परिस्थितियों के अनुसार उनका स्वरूप बदलता रहता था। उनमें से कुछ अर्थहीन और नैतिक-निरपेक्ष कार्यों के रूप में बच रहे। उनमें से कुछ बदली हुई स्थितियों में अनिवार्य भी हो गए। उदाहरणार्थ, १९२० में काउन्सिल में प्रवेश पाप था, परंतु १९३४ में वह अनिवार्य समझा गया। गांधीजी ने कहा कि अब उसमें परिवर्तन नहीं होगा। किंतु गांधीजी के कुछ कानूनी अनुयायियों के दिमाग में यह बात थी कि ये पाप मौलिक हैं और ये रूढ़िवादिता और पागलपन को जन्म देनेवाले स्थायी मानसिक अवरोध हैं। यों यह तर्क पेश किया जा सकता है कि आखिर नाम में क्या रखा है? अगर गांधीजी ने किन्हीं विशेष अल्पकालिक कार्यों को पाप कहा तो जनता ने उनका परित्याग कर दिया। नए विचारों को ठीक तरह से समझने के लिए तथा नई योजनाओं का मूल्यांकन करने के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है उनका बड़ा महत्व है।

'भारत छोड़ो' आंदोलन के तर्क-संगत नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कारण थे जिनके आधार पर उसे उचित ठहराया जा सकता था। किंतु गांधीजी की ओर से पर्याप्त तर्क नहीं दिए गए। बल्कि जब भी उनसे इस तरह के क्रांतिकारी आंदोलन की तैयारी के बारे में पूछा गया, वे केवल इतना ही सुझाव दे पाते थे कि चर्खा और खद्दर आंदोलन को तीव्र बनाया जाए। सम्पर्क-सूत्र समझ में नहीं आ सकता था और वह केवल विश्वास के बल पर ही ग्रहण किया जा सकता था। इसमें संभवतः आश्चर्य की कोई बात नहीं। बहुत ही कम कलाकार और अत्यंत सर्जनात्मक प्रतिभाशाली ठीक तरह से बौद्धिक तर्क दे पाते हैं और किसी बात का तार्किक औचित्य सिद्ध कर पाते हैं। उनमें

साधारणतः आलोचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक प्रतिमा की कमी रहती है। अपने कार्यों का ही वह मूल्यांकन प्रस्तुत नहीं कर सकते हैं। अधिकतर उनके द्वारा किए गए कार्य के गुणों का अच्छी तरह वर्णन और उसका औचित्य बतलाने का कार्य दूसरों के द्वारा ही किया जा सकता है। खादी का अर्थशास्त्र स्वयं गांधीजी की अपेक्षा किसी अर्थशास्त्री द्वारा, जो पश्चिमी रूढ़ आर्थिक सिद्धान्तों का कायल नहीं है, ज्यादा अच्छी तरह निरूपित किया जा सकता है। 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के साथ अपेक्षाकृत अधिक न्याय एक पत्र के संवाददाता और लुई फ़िशर जैसे प्रशिक्षित समीक्षक द्वारा हुआ। किसी बात का औचित्य सिद्ध करना, उसकी व्याख्या करना, मूल्यांकन और आलोचना, ये साधारणतः अधिक सर्जनात्मक क्रियाएँ नहीं हैं। कभी किसी उदाहरण में ही वे सर्जनात्मक ऊँचाइयों को छू पाती हैं। सामान्यतः वे शुद्ध बौद्धिक क्रियाएँ हैं। और इसलिए उनके लिए पुस्तकीय ज्ञान और तुलनात्मक अध्ययन की पृष्ठभूमि की आवश्यकता है। गांधीजी में न तो इस कार्य के लिए आवश्यक गुण थे, न उनके पास समय ही था और न ही इस दिशा में उनकी स्वाभाविक अभिरुचि थी। इसका परिणाम यह हुआ कि जो बुद्धिवादी गांधीजी की प्रस्थापनाओं को अथवा निष्कर्षों को स्वीकार करते हैं, उन्हें अपनी तरफ से तर्क देना होता है और औचित्य सिद्ध करना पड़ता है। उनके साथ अंधे अनुकरण की बात नहीं है। वे गांधीजी की तीक्ष्ण अंतर्दृष्टि और उस पर आधारित सही निर्णय को स्वीकार करते हैं। किंतु उनके 'सही निष्कर्षों' को सही मानने के उनके अपने आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक कारण हैं। यह बात प्रायः सभी जानते हैं कि जवाहरलाल आम तौर पर गांधीजी द्वारा दिए गए व्यावहारिक मार्गदर्शन को स्वीकार करते थे, लेकिन उनकी तर्क-प्रक्रिया से असहमत होते थे। अपने आधुनिक दृष्टिकोण से वह गांधीजी के तर्कों के स्थान पर अपने ही तर्क दिया करते थे। कांग्रेस के अनेक महत्वपूर्ण प्रस्तावों के साथ अधिकतर ऐसा था कि उनकी आत्मा गांधीजी की दी हुई होती और विस्तृत तर्क जवाहरलालजी के दिए हुए होते। गांधीजी एक सीमा तक अपने साथियों द्वारा दिए गए तर्कों को बुरा नहीं मानते थे अगर उनके व्यावहारिक निष्कर्षों और योजनाओं को मान लिया जाता था। दूसरी ओर उनके साथियों ने उनके निर्णय को अच्छा और उचित पाया। उनके कुछ साथियों में वैचारिक मतभेद की यह स्वीकृति अधिकतर उनके मस्तिष्क और हृदय के बीच की लड़ाई कही जाती है। यह समझा जाता था कि जहां एक ओर उनका मस्तिष्क गांधीजी के विचारों को अस्वीकृत कर देता था, वहां दूसरी ओर वे इतने भावुक थे कि उन विचारों को अथवा उनके नेतृत्व को वे छोड़ नहीं सकते थे। इस तरह का विचार उनके साथियों के प्रति, जो अपने बल पर जनता के नेता थे, न्याय नहीं

करता। व्यक्तिगत वफ़ादारी अपने स्थान पर अच्छी और उचित है। किंतु इससे महत्वपूर्ण राजनीतिक मामले तय नहीं होते जिनका संबंध लाख-लाख लोगों के तथा भावी पीढ़ियों के दुःख-दर्द से है। यद्यपि गांधीजी और उनके साथियों के बीच अत्यधिक लगाव था, फिर भी उनकी व्यक्तिगत वफ़ादारी ऐसी नहीं थी कि वे लोकहित को अपनी निजी भावुकता से कम महत्व देते। उनके .मुख्य अनुयायियों के साथ विचारहीन वफ़ादारी अथवा अंधानुकरण जैसी कोई चीज़ नहीं थी। चित्तरंजन दास, मोतीलाल नेहरू, वल्लभ भाई, राजाजी, जवाहरलाल और अन्य कई लोग रबर स्टाम्प नहीं हो सकते थे। किंतु फिर भी उन्होंने सत्याग्रह जैसी नई प्रकार की राजनीतिक क्रिया में गांधीजी की तीक्ष्ण अंतर्दृष्टि और अनुभव का आदर किया।

इसलिए गांधीजी के विचारों पर निर्णय तथा उनका मूल्यांकन उनके अपने गुणों के आधार पर होना चाहिए, न कि गांधीजी द्वारा दिए गए तर्कों के आधार पर। विद्यार्थी को गांधीजी की तर्क-प्रक्रिया और उनकी शैली अथवा जिन शब्दों और मुहावरों का उन्होंने उपयोग किया, उनसे संतुष्ट नहीं होना चाहिए। प्रत्येक बड़े सुधारक की तरह ही उनका विचार उनके शब्दों और तर्कों में नहीं बँध सकता। अधिकतर किसी विशेष कार्य के लिए उनके द्वारा दिए गए तर्कों की अपेक्षा उनके आचरण ही अधिक वाचाल हैं। अतएव उनका अध्ययन करते समय केवल उनके द्वारा उच्चरित अथवा लिखित शब्द पर ही ध्यान नहीं देना चाहिए, अपितु यह भी देखना चाहिए कि किस प्रकार का उनका जीवन था तथा किस तरह उन्होंने गंभीर स्थितियों का सामना किया, किस तरह उन्होंने संस्थाओं का संगठन किया और किस तरह का व्यवहार उन्होंने मित्रों और विरोधियों के साथ किया। उनका व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन एक खुली पुस्तक की तरह था। अतएव उनकी रचनाओं का अध्ययन इसके साथ ही साथ करना चाहिए। उनकी रचनाएं ही उनके वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन-दर्शन के सभी निहित अर्थों को व्यक्त नहीं करतीं। इसके अलावा गांधीजी के विचारों, नीतियों और कार्यक्रमों को ठीक तरह समझने के लिए विद्यार्थी को अपनी बुद्धि, ज्ञान और अनुभव पर निर्भर करना होगा।

अनु॰ : वारीन्द्र कुमार वर्मा

गांधीजी के कतिपय मूल विचार और व्यक्ति एवं सम्पत्ति के प्रति उनका दृष्टिकोण

रंगनाथ रामचंद्र दिवाकर

इस छोटे से लेख में मैं गांधी के व्यक्ति एवं सम्पत्ति विषयक दृष्टिकोण से सम्बन्धित उनके कुछ मूल विचारों पर विचार-विमर्श करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

गांधी के विषय में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वे चेतन मानव जीवन के उच्चतर स्तरों के विषय में अपनी परिकल्पना की ओर अनवरत रूप से बढ़ते और विकसित होते रहे। दूसरा उतना ही महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वे अपने चिंतन को न केवल लिखित और मौखिक शब्दों के माध्यम से अपितु अनुभूत सत्य के अनुसार समय-समय पर अपने क्रिया कलापों के माध्यम से भी सप्रेषित करने के लिए सदा व्यग्र रहे। वे निस्संदेह एक विलक्षण आदर्शवादी थे, परन्तु वे एक ऐसे आदर्शवादी थे जिन्होंने अपने आदर्श को मनुष्य और चराचर से उसके सम्बन्धों के रूप में प्रतिफलित करके ही साकार किया। उनका जीवन आध्यात्मिक रहा, पर उनकी आध्यात्मिकता अलौकिक विचारों और अवधारणाओं से संतुष्ट होनेवाली नहीं थी; उन्होंने आध्यात्मिकता को व्यावहारिक जीवन में रूपान्तरित करने का भगीरथ प्रयास किया, चाहे वह सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र हो, सार्वजनिक अथवा निजी जीवन हो अथवा चाहे वह क्षेत्र राजनीति अथवा नीतिशास्त्र का हो। वे समस्त सृष्टि के मूल में विद्यमान एक सर्वोपरि अनन्त सत्तामें विश्वास करते थे। वे इन सत्योंके सत्य (परमसत्य) के अन्वेषक और उपासक थे और उसे पहचानना, अनुभूत और प्रतिष्ठित करना उनकी लालसा थी। यद्यपि अलौकिक सर्वोपरि सत्ताकी उपलब्धि के लिए उन्हें प्रार्थना, उपासना एवं अन्य साधनाएँ सुलभ थीं तथापि उन्होंने सर्वोपरि सत्ता को उसके व्यक्त रूप में उपलब्ध करने के उद्देश्य से चेतनमात्र के साथ तादात्म्य-बोध, प्रेम, सेवा, तपस्या और त्याग रूपी साधनाओं का आश्रय लिया।

उनके लिए सर्वोपरि सत्ता सत्य, आत्म-प्रकाश, प्रेम और सहज-नियम रूप थी और उसकी सम्प्राप्ति चतुर्दिक की प्रत्येक वस्तुसे उचित सम्बन्ध, चिंतन, अनुभव और क्रिया के माध्यम से की जा सकती थी क्योंकि प्रत्येक चेतन वस्तु स्वयं सर्वोपरि सत्ता का ही प्रतिबिंब थी।

गांधीजी यह कहते हुए कभी नहीं थके कि सत्य और अहिंसा ऐसे युगलतारक थे जिन्होंने सदा उनका पथ-प्रदर्शन किया। उनका कथन था कि वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसलिए मैं यह कहना चाहता हूँ कि अहिंसा के माध्यम से सत्य (की प्रतिष्ठा) उनका एकमात्र धर्म-विश्वास था। उन्होंने अहिसा, प्रेम और विरोधियों को भी मूलाधिकारों की समान प्राप्ति

से इतर किसी अन्य साधन से सत्य के आवाहन का प्रयत्न तक नहीं किया। इंग्लैंड और भारत दोनों के लिए समान मंगलकारी होने पर ही उन्होंने अंग्रेजी-राज्य के विरुद्ध कठोर अहिंसात्मक युद्ध छेड़ा, पर उनका यह युद्ध अंग्रेज-जनता के विरुद्ध नहीं था। उनका विश्वास था कि भारत का शोषण बंद करने तथा बल और छल से निर्मित अपने साम्राज्य एवं उपनिवेशों का परित्याग करने से ब्रिटेन अधिक शुद्ध और महान् बन सकेगा।

भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार उनका विश्वास था कि प्राणिमात्र में व्याप्त चेतन-तत्त्व अद्वैत है और उन्होंने प्रत्येक जीवित और चेतन वस्तु के साथ ऐक्य का अनुभव किया। उनका विश्वास यह भी था कि परम सत्ता और उसके व्यक्त रूप को उपलब्ध करने का मार्ग व्यक्त और सृष्टमात्र के साथ तादात्म्य की प्रतीति से होकर ही है। उन्होंने कहा, मैं ईश्वर के रूबरू होना चाहता हूँ, और उनके इस साहस ने उन्हें उस मार्ग पर चलने के लिए अभिप्रेरित किया जिसे वे अत्यन्त सार्थक और अनुभव-सिद्ध रूप में अहिंसा कहते थे। उनके लिए अहिंसा एक अभावात्मक सिद्धान्त मात्र नहीं था, वह हिंसा का त्याग मात्र नहीं था, अपितु उनके निकट अहिंसा भावात्मक प्रेम, अधिकारों की समानता के बोध और इसलिए विपन्नतम और तुच्छतम तक पहुँचने की प्रबल अंतःप्रेरणा की द्योतक थी। और, प्रेम स्वयं को उनकी सेवा, उनके लिए कष्ट सहन और आवश्यकता पड़ने पर उनके लिए उत्सर्ग के अतिरिक्त किस अन्य रूप में व्यक्त ही कर सकता है!

सत्य, अमूर्त्त और निरपेक्ष सत्य, जिसे हम मूलभूत तात्विकता कहते हैं, अनुभवातीत एकरसता और कालजयी सत्ता का साक्षात्कार उन्हें निस्संदेह हो चुका था। परन्तु मानव मात्र के लिए अलौकिक सत्ता के शरीर रूप व्यक्त जगत के साथ तादात्म्य की स्थापना से ही उसकी ओर अग्रसर हुआ जा सकता था। व्यक्त जगत में प्राणिमात्र और उसमें भी मानव हमारे सर्वाधिक निकट है। अतएव गांधी के लिए 'मनुष्य सब वस्तुओं का मापदण्ड' था। मनुष्यकी स्वतंत्रता, उसका गौरव, आत्म-सम्मान, विधाता की सर्वोच्च एवं सर्वोत्कृष्ट रचना के रूप में अपनी पूर्ण सामर्थ्य को विकसित और अभिव्यक्त करने का अवसर उनका आदर्श बन गया जिसे उपलब्ध करना प्रत्येक का कर्त्तव्य है। मनुष्य की सर्वपक्षीय एवं पूर्ण मुक्ति उनका चरम लक्ष्य था। परन्तु गांधीने अपनी समस्त शक्ति के साथ इस बात पर बल दिया कि उनके लिये तो प्रेम और अहिंसा एकमात्र मार्ग है ही, वह सबके लिए भी सर्वोत्तम अनुगमनीय मार्ग है। उसकी उपलब्धि मनुष्य की मुक्ति, प्रेम, समानाधिकार की प्रतिष्ठा एवं निःस्वार्थ सेवा, कष्टसहन एवं त्याग से ही हो सकेगी।

गांधीजी न केवल आदर्शवादी थे और न मात्र सिद्धान्तवादी। वे यह जानने के लिए

पर्याप्त व्यवहारवादी थे कि पशुजगत में बहुत बड़ी मात्रा में हिंसा विद्यमान है, यद्यपि पशुओं ने हिंसा को विज्ञान और कला का रूप देकर उसे विधिवत् शोषण का माध्यम नहीं बनाया है। पशु चेष्टाएं सहज-वृत्ति-प्रेरित होती हैं, सायास नहीं। उनका कहना था कि मनुष्य विकास के एक उच्चतर धरातल पर पहुँच चुका है और यदि उसे और ऊँचा उठना है तो उसे उच्चतर सिद्धान्त का अनुसरण करना चाहिये और वह सिद्धान्त प्रेमका सिद्धान्त है। प्रेम मानव जाति का सिद्धान्त है जैसे बर्बरता जंगल का सिद्धान्त है। उन्होंने सत्य की प्रतिष्ठा के निमित्त अन्याय और अधर्म से मोर्चा लेने के एकमात्र विकल्प के रूप में अहिंसा का वरण करने का एक और कारण दिया है। मनुष्य कभी आश्वस्त नहीं हो सकता कि सत्य का उसका अपना ही ज्ञान अंतिम है और उसके विषय में ज्ञान की कोई और सीमा हो ही नहीं सकती। इसलिए उन्होंने कहा कि हिंसा अथवा संघर्ष के माध्यम से सत्य को प्रतिष्ठित करने की बात वे कभी सोचेंगे भी नहीं। वे अपने सत्यके लिए स्वयं कष्टसहन कर लेंगे पर उसे बर्बरतापूर्वक दूसरों पर आरोपित नहीं करेंगे।

यह सब एक सरल सूत्र में परिवर्तित हो जाता है और वह सूत्र उस एक प्रश्न के उत्तर में निहित है कि एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्तियों से जिनके सम्पर्क में वह किसी कारण अथवा उद्देश्य से आता है, चाहे वह प्रत्यक्ष संघर्ष ही क्यों न हो, क्या सम्बन्ध होना चाहिये? —और इसका उत्तर यह है कि वह सम्बन्ध एकपक्षीय प्रेम, मूलाधिकारों की समानता, सेवा, कष्टसहन और त्यागका होना चाहिये। प्रत्येक भाव अथवा अनुभव जो एक व्यक्ति के हृदय में दूसरे मानव से किसी प्रकार का सम्बन्ध होने पर उद्‌बुद्ध होता है, एकमात्र प्रेमधारा में द्रवित कर दिया जाना चाहिये और उस व्यक्ति को प्रेम एवं अधिकारों की समानता के उसी प्राणदायी अमृत में सराबोर होकर दूसरों के विषय में सोचना और कार्य करना चाहिये। गाँधीजी ने इस प्रकार के प्रेम को केवल मानव मात्र के लिए सीमित नहीं किया अपितु प्रत्येक प्राणी के लिए उसका विस्तार किया। केवल प्रेम प्रसूत सम्बन्ध ही, जिससे मनुष्य अन्य सहधर्मियों के साथ उद्‌भूत हो रहा है, आसन्न सामूहिक विनाश के कगार से उसकी रक्षा कर सकता है। सामूहिक विनाश की स्थिति प्रेम और उसमें समाविष्ट सब कुछ को न करने के कारण ही उत्पन्न होती है।

अब उनके प्राथमिक विचारों और मूल विश्वासों के आधार पर हम सम्पत्ति के विषय में उनकी वैचारिक पद्धति का पर्यवेक्षण करेंगे। यहाँ सम्पत्ति से मेरा तात्पर्य उनके शरीर के अतिरिक्त प्रत्येक सांसारिक एवं भौतिक वस्तु तथा उन आध्यात्मिक एवं अन्य शक्तियों से भी है जो उनमें विद्यमान थीं अथवा जिनपर उनका अंशतः अथवा पूर्णतः अधिकार था अथवा हो

ता था। गाँधीजी ने सम्पत्तिके विषय में अपने दर्शन और 'मात्र अहिंसा के माध्यम सत्य' के अपने विश्वास के अनुरूप दृष्टिकोण विकसित किया। यद्यपि वे न्यासधारिता सिद्धान्त को पूरी तरह विकसित नहीं कर पाए तथापि यह निरापद रूपसे कहा जा सकता कि न्यासधारिता एक ऐसा सम्बन्ध था जिसे उन्होंने सम्पत्ति मात्र के विषय में तर्कपूर्ण कोणके रूप में परिकल्पित किया। वस्तुतः न्यासधारिता कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो रे वर्तमान जीवन और सम्पत्ति विषयक दृष्टिकोण के लिए सर्वथा अपरिचित हो। वास्तव माता-पिता अपनी संतानों के लिए अनेक प्रकार से संरक्षक होते हैं। ट्रस्टों की स्थापना, है वे सार्वजनिक हों अथवा निजी, कुछ लक्ष्यों की पूर्ति और लोकहित एवं मंगल अथवा पय सार्वजनिक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए होती हैं। उस सिद्धान्त का समग्र जीवन उपर्युक्त अर्थ में संपत्ति कहलानेवाली प्रत्येक वस्तु तक विस्तार ही वह सम्बन्ध है जिसकी कल्पना गाँधीजी ने की थी। उन्होंने ट्रस्टी के रूपमें कार्य करने के लिए किसी आयोग स्थापना के विषय का बहिष्कार नहीं किया परन्तु वंशानुगत न्यासधारिता का ा ही नहीं था और किसी प्रकार के निजी लाभ की बात सोची नहीं जा ती थी।

यदि हम पूर्ण न्यासधारिता के प्रस्तुत सिद्धान्त को मनुष्य और उसके शरीर सहित उसकी ात्ति तथा उसकी सहज एवं अर्जित क्षमताओं एवं शक्तियों के बीच का सम्बन्ध कहें तो कह सकते हैं कि वह सिद्धान्त पूर्ण हो जाता है। और यदि ट्रस्टी सम्पत्ति को सुरक्षा, -भाल और अभिवृद्धि के विषय में उसके स्वामी के रूप में कार्य करे तो यह सिद्धान्त कहीं क सार्थक और शक्तिशाली हो जाता है। परन्तु ज्यों ही सम्पत्ति के उपयोग का प्रश्न ा है, ट्रस्टी को उसे दूसरों के लाभ और कल्याण के लिए ही उपयोग में लाना होता है, अपने लिए अथवा किसी स्वार्थपूर्ण प्रयोजन की सिद्धि के लिए नहीं। और केवल तभी गाँधीजी के अर्थ में वास्तविक ट्रस्टी होगा।

इस प्रकार गाँधीजी ने व्यक्तियों और चेतन प्राणियों के बीच प्रेम के सम्बन्ध की स्थापना की अपने से अभिन्न मानकर दूसरों का सम्मान एवं उसी भावसे उनके प्रति व्यवहार किया। वे कुछ और भी कर सकते थे, जैसे कि वे दूसरों के लिए अपना पूर्णोत्सर्ग कर सकते जो स्वयं के लिए नहीं कर सकते थे, क्योंकि वे स्वयं के लिए किसका उत्सर्ग करते जब मनत्व स्वयं ही उत्सर्गधर्मी है। यह उस व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह को लाभ है जिसे हम करते हैं। यहाँ प्रेम में केवल अहिंसा का ही समावेश नहीं है अपितु उसमें दूसरोंके ाण के लिए सब कुछ कर डालने की दृढ़-संकल्प वृत्ति भी समाविष्ट है। प्रेमके अंतर्गत दुष्कर्म में

सहयोग, अन्याय और ऐसे अल्प कार्य जो विकास विरुद्ध हैं अथवा जो सम्बद्ध व्यक्तियों को पतनोन्मुख और ओछा बनाते हैं, अवश्य ही समाविष्ट नहीं हैं।

जहाँ तक सम्पत्ति का सम्बन्ध है, गाँधीने सम्पत्ति को दूसरे का मंगल करने के साधन के रूप में ग्रहण किया और इसके लिए उनका आधार यह सिद्धान्त था कि समष्टिमंगल में व्यष्टिमंगल सहज निहित है। इसकी परिणति न्यासधारिता की समग्र अवधारणा में होती है।

अनु०—प्रेमकान्त टंडन

जीवन यखन शुकाये याय करुणाधाराय एसो।
सकल माधुरी लुकाये याय, गीतसुधारसे एसो॥
कर्म यखन प्रबल-आकार गरजि उठिया ढाके चारि धार
हृदयप्रान्ते, हे जीवननाथ, शान्त चरणे एसो॥
आपनारे यबे करिया कृपण कोणे पड़े थाके दीनहीन मन
दुयार खुलिया, हे उदार नाथ, राजसमारोहे एसो।
वासना यखन विपुल धुलाय अन्ध करिया अबोधे भुलाय,
ओहे पवित्र, ओहे अनिद्र, रुद्र आलोके एसो॥

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

महात्मा जी को यह गान बहुत प्रिय था। यरवडा जेल में जब महात्मा जी ने अनशन भंग किया तब गुरुदेव ने स्वयं इस गीत को गाकर सुनाया था।

—संपा०

ट्रस्टीशिप का सिद्धांत—वर्तमान संदर्भों में

रामकुमार भुवालका

'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' दर्शन भारत की प्राचीन ऐतिहासिक परम्पराओं और रीतियों द्वारा सम्मत मूलतः भारतीय दर्शन है जिसने प्रायः हर युग में भारतीय समाज के सभी पक्षों और क्रियाओं को निर्देशित किया है। यही दर्शन वस्तुतः गांधीवाद है। बापू ने समाज एवं काल की सभी समस्याओं का समाधान उक्त दर्शन के आधार पर खोज कर प्रस्तुत किया और भारतीय जन-मानस को इस दर्शन की प्रभावशीलता से संवेदित किया। उन्होंने व्यष्टि और समष्टि के प्रति नयी दृष्टि प्रदान की और यह प्रतिपादित किया कि समाज की मात्र इकाई होते हुए भी व्यक्ति का अस्तित्व पृथक होना है। सामाजिकता की विशाल परिधि में व्यक्तिवाद की महत्ता का प्रतिपादन एक नयी बात थी और इसीलिए गांधीजी को महान् युगपुरुष माना जाता है।

जब पाश्चात्य जगत मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से आंदोलित था और वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता पर जन-विश्वास जमता जा रहा था तब गांधीजी ने वर्ग-सहयोग का नया, मौलिक नारा देकर विश्व को चमत्कृत कर दिया। उन्होंने समाज के अंदर वर्गों के अस्तित्व को स्वीकारा अवश्य लेकिन हितों के टकराव अथवा संघर्ष की अनिवार्यता को कभी मान्यता नहीं दी। वर्ग-सहयोग वर्ग-भेद से उत्पन्न तनावों को दूर करने का शांतिपूर्ण एवं कल्याणकारी मार्ग सिद्ध हुआ है और जो लोग मार्क्स के वर्ग-संघर्ष विषयक सिद्धान्त की ओर उन्मुख होने लगे थे वे अब इस नये विकल्प की ओर आकृष्ट हो उठे हैं। सर्वोदय आंदोलन इसी गांधीवादी सिद्धान्त की स्वाभाविक निष्पत्ति है। जयप्रकाश नारायण, नवकृष्ण चौधरी आदि अनेक जन-नेता मार्क्सवाद के मोह से मुक्त होकर सर्वोदय में दीक्षित हुए और आज भी सर्वोदय आंदोलन में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है जो अन्यथा मार्क्सवाद की ओर प्रवृत्त होते। तेलंगाना के हिंसक साम्यवादी आंदोलन का उत्तर सर्वोदय ने दिया और एक ही समस्या के समाधान के लिए दूसरा श्रेष्ठतर मार्ग सुझाया। गांधीजी द्वारा प्रतिपादित 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धान्त को इसी पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है।

ट्रस्टीशिप सिद्धान्त क्या है? गांधीजी ने अपने इस सिद्धान्त की व्याख्या सर्वप्रथम अहमदाबाद में की थी जहां वस्त्र उद्योग में मालिकों और मजदूरों के बीच संघर्ष चल रहा था। इसके बाद बम्बई, कलकत्ता आदि अन्य औद्योगिक नगरों में उद्योगपतियों और पूंजीपतियों से बातचीत के दौरान उन्होंने इस सिद्धान्त की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की। वर्ग-सहयोग

के मूल सिद्धांत पर आधारित 'ट्रस्टीशिप' वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता का खण्डन करता है। गांधी जी ने बतलाया कि यदि धनी लोग स्वयं को समाज का कल्याणकारी उपकरण मान कर चलें और अपनी धन सम्पदा को समाज की धरोहर समझें तो वर्ग-संघर्ष उत्पन्न हो ही नहीं सकता। उन्होंने उद्योगपतियों को यह सुझाव दिया कि वे स्वयं को समाज का ट्रस्टी समझें और अपनी पूंजी को ट्रस्ट मानें। इस ट्रस्ट में से वे केवल अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए अपेक्षित धन लेने के अधिकारी हैं और शेष पूंजी समाज-कल्याण में लगाएं। उनका मत था कि वर्ग-संघर्ष तभी उत्पन्न होता है जब पूंजीपति अपनी पूंजी को समाज की धरोहर न मान कर उसका उपयोग करता है। फलतः समाज का विपन्न वर्ग उससे क्षुब्ध हो उठता है और दोनों वर्गों के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

गांधीजी ने पूंजीपतियों और उद्योगपतियों को समझाया कि अर्जित पूंजी में समाज के श्रमिक वर्ग की भी बराबर की साझेदारी है क्योंकि पूंजी मात्र से उत्पादन नहीं हो सकता और उत्पादन बग़ैर आय नहीं हो सकती चूंकि उत्पादन में पूंजी और श्रम का विनियोजन जरूरी होता है, अतः अर्जित आय में अनेक व्यक्तियों की साझेदारी होती है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज के बगैर नहीं रह सकता और समाज से अलग पूंजी का कोई महत्व नहीं है। अतः पूंजी पर व्यक्ति का नहीं, समूचे समाज का अधिकार है।

गांधीजी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त सामाजिक अर्थशास्त्र की नयी उपलब्धि है। इसकी सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि समाज के सभी वर्गों के बीच सद्भाव और सौहार्द कायम रहता है। इसके विपरीत, वर्ग-संघर्ष से वर्गों के बीच शत्रुता बढ़ती है, रक्तपात होता है, सामाजिक अशांति बढ़ती है और प्रगति अवरुद्ध होती है। ट्रस्टीशिप सिद्धान्त श्रम और पूंजी के बीच तालमेल स्थापित करता है जबकि वर्ग-संघर्ष श्रम और पूंजी के बीच संघर्ष का नाम है। जाहिर है कि संघर्ष से सामाजिक शांति भंग होती है और विकास की गति में बाधा पड़ती है। दूसरी ओर वर्ग-सहयोग से सामाजिक शांति कायम रहती है और समृद्धि के वितरण के फलस्वरूप विकास की गति को बढ़ावा मिलता है।

ट्रस्टीशिप सिद्धान्त की उपयोगिता का दूसरा उज्ज्वल पक्ष यह है कि पूंजी का अधिकतम सदुपयोग होता है। जो व्यक्ति अपनी धन-सम्पदा को समाज की धरोहर मानता है वह फिजूलखर्ची नहीं कर सकता। दूसरी ओर श्रमिक वर्ग भी आय में हिस्सेदारी की भावना से प्रेरित हो कर पूरे उत्साह से उत्पादन में जुटे रहते हैं। धन-सम्पदा के प्रति स्वामित्व का भाव न होने के कारण अस्वस्थ प्रतियोगिता की गुंजाइश नहीं रहती है। समाज के प्रति लगाव के कारण उत्पादन स्तरीय होता है और मुनाफे का लोभ सीमित रहता है।

देश निरंतर संकट की ओर बढ़ रहा है। जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है, बेरोजगारी बढ़ती जा रही है और फलस्वरूप सामाजिक शांति भंग होने की आशंका बलवती होती जा रही है। असमानता से सामाजिक असंतोष बढ़ रहा है। ऐसी स्थिति में गांधी जी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त ही देश को पतन और अराजकता से बचा सकता है। इस सिद्धान्त का निरादर देश और समाज के लिए खतरनाक सिद्ध होगा जैसा कि देश के कई भागों में नजर आने लगा है। पूंजी और श्रम के बीच मन-मुटाव के कारण कई राज्यों में अराजकता व्याप्त है। हड़तालें, तालाबंदियां और घेराव ने जहां प्रगति को आघात पहुंचाया है वहीं दूसरी ओर समाज की सुख-शांति को भी भंग किया है। कुछ राजनीतिक दल इस स्थिति को अधिक उग्र बनाने की ओर सचेष्ट हैं ताकि भविष्य में उसका राजनीतिक लाभ उठाया जा सके। वर्ग-संघर्ष को तेज करने की चेष्टाएं की जा रही हैं और इस उद्देश्य से राजनीतिक सत्ता का भी उपयोग किया जा रहा है। इससे भारत का भविष्य भयावह सम्भावनाओं की परिधि में आ गया है। यदि स्थिति की गम्भीरता को महसूस नहीं किया गया तो परिणाम भयंकर होंगे।

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त ही वर्तमान संकट का सही समाधान है। समाज के सभी वर्गों को अपनी मनोवृत्ति बदलनी चाहिए और संघर्ष के बजाय सहयोग का पथ ग्रहण करना चाहिए। पूंजीपतियों और उद्योगपतियों को भी इस ओर ध्यान देना चाहिए। वे ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को अमल में लाएंगे तो उससे देश का कल्याण होगा और साथ ही स्वयं उनका भी हित होगा, अन्यथा वर्गसंघर्ष का ज्वार सभी को आत्मसात कर लेगा। इस दिशा में प्रयास तत्काल शुरू हो जाने चाहिए। समय निकल गया तो पछताने से कोई लाभ नहीं होगा।

गान्धीजी और लोक-तन्त्र

गोविन्ददास

भारतीय संविधान में बालिग मताधिकार के आधार पर समाजवादी समाज रचना के सिद्धान्त को स्वीकार कर देश में लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था कायम की गई। भारतीय प्रजातन्त्र के इन सत्रह वर्षों में देश परीक्षण के दौर से गुजरा है और अनेक बार ऐसी स्थिति भी बनी है, जब लोकतन्त्र का यह ढांचा लड़खड़ाकर गिरने की स्थिति में भी आ गया है। किन्तु हमारे नेताओं ने जो इसके कर्णधार और सूत्रधार भी रहे हैं, इसे बड़ी मजबूती और और जिन्दादिली से सम्हाले रक्खा और इसकी बुनियाद नहीं हिलने दी। भारतीय लोकतन्त्र के इन संस्थापकों और कर्णधारों में विशेष रूप से राष्ट्रनायक पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल और देशरत्न डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद के नाम उल्लेखनीय हैं। गांधीजी के स्वप्न और कांग्रेस के लोकतांत्रिक मसौदे को साकार रूप मिल ही नहीं सकता था यदि सरदार वल्लभ भाई पटेल ने छः सौ से अधिक देशी रियासतों का भारतीय संघ में विलीनीकरण करा देश को राजनैतिक और भावात्मक रूप से एक न बना दिया होता। फिर देश के उप-प्रधान-मन्त्री और भारतीय संविधान सभा के सम्माननीय सदस्य के नाते संविधान निर्माण में उनका जो अनवरत योगदान रहा, वही तो आगे आने वाली लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था की आधार-भित्ति था जिस पर देश का और उसकी मान्य शासन-व्यवस्था का भविष्य निर्भर करता है। सरदार वल्लभ भाई पटेल के एकनिष्ठ प्रयत्नों से ही संविधान निर्माण के बाद देशरत्न डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी देश के अन्तरिम राष्ट्रपति बने और सन् १९५२ के आम चुनाव के बाद जिन्हें देश ने विधिवत् अपना प्रथम राष्ट्रपति चुनने का सौभाग्य प्राप्त किया। दुर्भाग्य से इस बीच सरदार पटेल का वरदहस्त हमारे ऊपर से उठ गया और कांग्रेस के अन्य अनेक अनुभवी और त्यागी नेताओं के साथ देश का सारा भाग्य और भविष्य सर्वाधिक रूप से पं० जवाहरलाल नेहरू और डा० राजेन्द्रप्रसाद के हाथों में आ गया। उन दिनों गांधीजी के अनुयायियों में जिन्हें अग्रगण्य माना जाता था, उनमें पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल और डा० राजेन्द्र प्रसाद के नाम प्रमुख रूप से लिये जाते थे। इन तीनों के व्याख्या प्रसंग में डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद जी को तो मनसा, वाचा, कर्मणा गांधीजी का अनुयायी माना जाता था और पं० नेहरू तथा सरदार के सम्बन्ध में प्रायः लोग कहा करते थे कि नेहरू विचारक हैं, सरदार कारक। सरदार के उठ जाने के बाद नेहरू जो गांधीवाद का विचारक था, रह गया और उस पर ही विचारक और कारक का यह दोहरा दायित्व आ पड़ा। किन्तु जैसा कि अक्सर होता है, विचारक कहीं बहक न जाय, इस बात पर अधिक नहीं तो अंशतः जिस अंकुश की

आवश्यकता होती है, वह उन पर उनके साथी और बुजुर्ग के रूप में डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद जी का बना रहा। बारह वर्ष के पूरे एक युग तक डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी देश के राष्ट्रपति रहे और पं० नेहरू एक लोकप्रिय प्रधानमन्त्री। राजेन्द्र बाबू के अवकाश-ग्रहण करने के बाद पंडित जी ने वह रिक्तता महसूस की जो जीवन में उन्होंने कभी नहीं की थी। उनके सबसे पुराने अनुभवी और योग्य साथी एक के बाद एक उनसे विदा होते गये। राजेन्द्र बाबू उनमें अंतिम थे। अब पंडितजी सर्वथा एकाकी थे, विचारक की दृष्टि से भी और कारक की दृष्टि से भी। डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी के अवकाश-ग्रहण करने के कुछ समय बाद ही देश पर चीन का आक्रमण हुआ और इसने देश की लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था, उसकी प्रतिष्ठा, उसके अस्तित्व और पंडित जी के सर्वांगीण व्यक्तित्व को एकबारगी कसौटी पर कस दिया। चीन का यह आक्रमण एक लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था पर एक तानाशाही शासन-व्यवस्था का हमला था। इतना ही नहीं, लोकतंत्र और उसकी समस्त मान्यताओं और नीतियों पर यह एक ऐसी चोट थी जिस पर न केवल भारत का वरन् सारे संसार का भविष्य समय की तुला पर चढ़ गया। भारत के संसार का सबसे बड़ा प्रजातांत्रिक देश होने के कारण संसार के सभी प्रजातांत्रिक राष्ट्र इस संघर्ष से चिन्तित हो गये और परीक्षण के इस दौर में प्रजातंत्र के पोषक राष्ट्रों ने भारत को सहयोग और समर्थन देकर उसे इस संकट से उबारा।

चीन की इस चोट ने पंडित जवाहरलालजी को बुरी तरह झकझोर दिया। मानो उनके वे सारे स्वप्न जो उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण व्यावहारिकता से दूर थे, धूलधूसरित हो गये। उनके शांतिप्रिय विचारक व्यक्तित्व पर यह पहली और अन्तिम चोट थी जिसने अंततोगत्वा उन्हें तोड़ ही दिया।

चीनी आक्रमण के समय और उसके बाद सन १९६५ में पाकिस्तानी हमले के समय हमने एक बात और अनुभव की कि राष्ट्र के आत्म-सम्मान पर आँच आने की स्थिति में सारा राष्ट्र, उसका सर्व-साधारण किस प्रकार अपने धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और जातीय मतामत तथा भेदभाव क्षणमात्र में भुलाकर एक दीवार की तरह खड़ा हो जाता है। यह शुभ-शकुन अपने स्वाभिमान और स्वदेश प्रेम के कारण तो है ही, इसमें भी लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था का कम हाथ नहीं है। इन्हीं दिनों हमने अनुभव किया कि स्वाभिमान और देश-प्रेम की यह जो आग हमारे देखने में आयी वह सर्वापेक्षा सर्व-साधारण के दिल से उठने वाली लपट थी, जिसमें ये दोनों ही आक्रमण झुलस कर ध्वस्त हो गये।

गान्धीजी के वरदानी प्रयत्नों से देश को आजादी मिली। पर उसे बचाना और उसकी रक्षा करना, सदियों की दासता के बाद मुक्त भारतीय आत्मा ने सर्वप्रथम सन् १९६२ में चीनी

आक्रमण के समय सीखा और इस सीखे हुए सबक को अदा किया सन् १९६५ में पाकिस्तानी आक्रमण के समय।

लोकतन्त्र का यह गुण है कि उसका हर नागरिक अपने अधिकारों और दायित्वों से परिचित रहे। इतना ही नहीं, उसे अपने अधिकार और दायित्व निर्वाह का समान अवसर सुलभ हो। अधिकार और दायित्व की इस जागरूकता के बिना कर्त्तव्य पालन संभव नहीं है और कर्त्तव्य-पालन बिना कोई भी लोकतंत्रीय शासन सफल, सुदृढ़ और स्थायी नहीं बन सकता।

भारत में लोकतंत्रीय शासन की नींव कांग्रेस ने डाली। गांधीजी के लिए स्वराज्य साधन था और लोकतंत्रीय शासन साध्य। अपने पवित्र जीवन, पवित्र उद्देश्य और पवित्र प्रयत्नों से उन्होंने स्वराज्य तो देश को अपने हाथों सौंपा और लोकतंत्रीय शासन उनके बाद उनके अनुयायिओं ने देश को दिया। इस प्रकार साधन और साध्य की यह प्रक्रिया पूरी हुई। गांधीजी की मान्यता रही कि साधन शुद्ध होगा तो साध्य पवित्र होगा ही। पर यदि साधन में अपवित्रता आयी तो साध्य भी उसके अनुरूप दूषित और अपवित्र हो जायगा। अपवित्रता के आते ही पतन आने लगता है। अतः प्रजातंत्र की सफलता उसके स्थायित्व और उज्ज्वल भविष्य की दृष्टि से भी यदि हमारी लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था में जो अब भारत के महान् भविष्य के लिए एक साधन बन गयी है यदि अपवित्रता का प्रवेश होना है तो उसका भविष्यत् साध्य भी धूमिल और मलिन होकर अपवित्र बन जायगा। अतः समय रहते यह सावधानी आज के कर्णधारों को रखनी है जिन पर विश्व के इस विशाल भू-खण्ड के प्रजातन्त्र के सफल प्रयोग और परीक्षण का दायित्व है।

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने गांधीजी के लोकतंत्री रूप के संबंध में विचार व्यक्त करते हुए 'मेरी कहानी' में लिखा है--

"गांधीजी के लोकतंत्र का ख्याल निश्चित रूप से आध्यात्मिक है। मामूली अर्थ में उसका संख्या से या बहुमत से या प्रतिनिधित्व से कोई वास्ता नहीं है। उसकी बुनियाद है सेवा और त्याग, और यह नैतिक दबाव से ही काम लेती है। हाल ही में प्रकाशित अपने एक वक्तव्य में (१७ सितम्बर, १९३४) लोकतंत्र की उन्होंने व्याख्या दी है। वह अपने को जन्मतः लोकतंत्रवादी मानते हैं और कहते हैं कि अगर—"मनुष्य जाति दरिद्र से दरिद्र व्यक्तियों के साथ अपने आपको बिलकुल मिला देने, उनसे बेहतर हालत में अपना जीवन-यापन न करने की उत्कण्ठा और उनके समतल तक अपने को पहुंचाने के जागरूक प्रयत्न से किसी को इस दावे का अधिकार मिल सकता है, तो मैं अपने लिए यह दावा करता हूं।" आगे चलकर वह लोकतन्त्र की विवेचना इस प्रकार करते हैं :—

"हमें यह बात जान लेनी चाहिए कि कांग्रेस के लोकतंत्री स्वरूप और प्रभाव की प्रतिष्ठा उसके वार्षिक अधिवेशन में खिंच आने वाले प्रतिनिधियों या दर्शकों की संख्या के कारण नहीं, बल्कि उसकी की हुई सेवा के कारण है, जिसकी मात्रा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। पश्चिमी लोकतंत्र अगरचे अब तक विफल नहीं हुआ तो कम से कम वह कसौटी पर जरूर चढ़ा है। ईश्वर करे कि हिन्दुस्तान में प्रत्यक्ष सफलता के प्रदर्शन के द्वारा लोकतन्त्र के सच्चे विज्ञान का विकास हो। नीति-भ्रष्टता और दम्भ लोकतन्त्र के अनिवार्य फल नहीं होने चाहिए, जैसे कि वे निःसंदेह वर्तमान समय में हो रहे हैं, और न बड़ी संख्या लोकतन्त्र की सच्ची कसौटी ही है। यदि थोड़े से व्यक्ति जिनके प्रतिनिधि बनने का दावा करते हैं, उनकी भावना, आशा और हौसले का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो वह लोकतन्त्र के सच्चे भाव से असंगत नहीं है। मेरा मत है कि लोकतन्त्र का विकास बल प्रयोग करके नहीं किया जा सकता है। लोकतंत्र की भावना बाहर से नहीं लादी जा सकती, वह तो अन्दर से ही पैदा की जा सकती है।"

लोकतंत्र के सम्बन्ध में गान्धीजी की भावना, उनकी व्याख्या और विचार जो उन्होंने सन् १९३४ में व्यक्त किये थे आज पतीस वर्ष बाद भी ज्यों के त्यों ताजा और हमारी लोकतंत्रीय समस्याओं के निदान और समाधान हैं। उन्होंने सन् १९३४ में पश्चिमी प्रजातांत्रिक शासन-पद्धतियों को लक्ष्य कर अपनी जिन आशंकाओं को व्यक्त किया था, आज वे भारतीय लोकतंत्र पर हावी हो उठी हैं। लोकतंत्र की सफलता के लिए गांधीजी का सेवा-त्याग और नैतिक दबाव का आदर्श आज अतीत की एक यादगार बनती जा रही है। लोकतंत्र का वह आध्यात्मिक पक्ष जिसके आधार पर उन्होंने स्वराज्य की लड़ाई लड़ी और अपने हृदय में लोकतंत्र का जिसे वे जनता की भाषा में रामराज्य कहते थे, जो नक्शा बनाया भौतिकता के भार से दबा जा रहा है। आध्यात्मिकता के सर्वोत्कृष्ट आदर्श अहिंसा का वरण कर गांधीजी ने अपने हृदय के खून से जिस देश को सींचा उसकी भावी पीढ़ियां जिनमें बापू के स्वप्नों का भारत था, हमें जिन पर आज भारतीय लोकतंत्र के वहन का यह गुरुतर दायित्व है, कहीं अकृतज्ञ न कहें यही सावधानी रखनी है। यही महात्मा गांधी और उनके स्वप्नों के लोकतंत्र के प्रति हमारी सच्ची वफादारी होगी।

मेरे बापूजी और गुरुदेव

काकासाहेब कालेलकर

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और राष्ट्रपिता महात्मा गांधी दोनों हमारे युग के सर्वश्रेष्ठ पुरुष दोनों के साथ कमोबेश संपर्क में पा सका यह अपने जीवन का महद्भाग्य मानता हू। दोनों का मेरे जीवन पर गहरा असर हुआ। हर दृष्टि से देखते दोनों में बड़ा अंतर होते हुए भी मेरे मन में दोनों के प्रति असीम श्रद्धा जम गयी। और दोनों की महत्ता पहचानने के बाद दोनों में मैं एक अद्भुत साम्य भी देख सका। दोनों के बारे में मैंने बहुत कुछ लिखा है। अब भी लिख सकता हू। लेकिन दोनों के बीच तुलना करना मेरे लिए आसान नहीं है। हर एक के व्यक्तित्व के बारे में अलग-अलग ढंग से कहना कठिन नहीं है लेकिन दोनों के बीच तुलना करना मेरे लिए इसलिए कठिन है कि ऐसा करते हुए मुझे अपना व्यक्तित्व बीच में लाना पड़ेगा। और मेरे मन में अपने बारे में बहुत ऊँचा ख्याल न होने के कारण डर रहता है कि तुलना करते हुए मैं दोनों के प्रति कुछ अन्याय न कर बैठू।

मेरे लेख के आरंभ में ही यह डर व्यक्त करने मुझे तसल्ली हो रही है कि अब मैं कुछ भी लिखूं, पाठक समझ लेंगे कि एक सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से यह तुलना हो रही है और इसलिये उसे कितना महत्त्व देना है पाठक स्वयं तय कर सकते हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा के द्वारा क्रांति

अपनी हिमालय यात्रा पूरी करके मैं शान्तिनिकेतन इसलिये गया कि भारतीय संस्कृति के एक अनन्य उद्गाता के एक अनोखे शिक्षा-प्रयोग का निरीक्षण कर सकूं और साथ साथ उनके जीवन का भी थोड़ा परिचय पा सकूं।

मैंने शुरू से तय किया था कि 'यह जीवन स्वराज्य प्राप्ति के लिए अर्पित है।' और स्वराज्य के मानी हैं प्रजाराज्य और भारतीय संस्कृति के विकास के लिये अनुकूल राज्य। कालेज के आखरी दिनों में मेरा विश्वास हो गया था कि 'हिंसक क्रांति के बिना अंग्रेजी राज्य को हम हटा नहीं सकते'। कई छोटे मोटे क्रांतिकारी दलों के साथ मेरा संपर्क था। वैधानिक आंदोलनों पर मेरा तनिक भी विश्वास नहीं था। इसलिये उस समय की कांग्रेस के प्रति मेरी तनिक भी निष्ठा नहीं थी। मैंने मान लिया था कि राष्ट्र को अगर क्रांति के लिये तैयार करना है तो राष्ट्रीय शिक्षा के द्वारा ही हम प्रारंभ कर सकते हैं: क्योंकि राष्ट्रीय शिक्षा के द्वारा ही भारत की आत्मा को जाग्रत कर सकते हैं। हमारी सनातन संस्कृति के गुण दोष

को मैं पहचानता था। संत संस्कृति का मेरे ऊपर बचपन से प्रभाव था। सनातनी जीवन-साधना का मलाबुरा परिचय तो था ही। उसमें से आगे जाकर मैं बुद्धिवाद की तरफ झुक गया था। लेकिन जानता था कि बुद्धिवाद के द्वारा जनता को हम राजनैतिक क्रांति की ओर खींच नहीं सकेंगे। भारत की जनता धर्मप्राण है। हमारे यहाँ धर्म और संस्कृति भिन्न नहीं हैं। इसलिये धर्म, संस्कृति और राजनीति तीनों का समन्वय किये बिना राष्ट्रव्यापी क्रांति हम कर नहीं सकेंगे।

अहिंसा के प्रति जो सामान्य सद्भाव भारतीय हृदय में रहता है वह तो मुझमें था ही। लेकिन मैं मानता था कि क्रांति के लिए सशस्त्र तैयारी आवश्यक है।

खुले युद्ध के लिये देश तैयार नहीं

क्रांतिकारी दलों के साथ काम करते और नेताओं के साथ उत्कटता से चर्चा करते मैं इस नतीजे पर आ रहा था कि अंग्रेजों की कुशलता और सामरिक तैयारी के मुकाबले में हमारी क्रांतिकारी दलोंकी तैयारी नहीं के बराबर है। सामान्य जनता के मन में क्रांतिकारियों के प्रति आदर है। सरकारी खतरा उठाकर भी जनता क्रांतिकारियों को चोरी चुपके से आर्थिक सहायता देनेको तैयार है। किन्तु राष्ट्रीय पैमाने पर क्रांति जगाने के लिये बलिदान की जो तैयारी चाहिये वह जनतामें नहीं है। जीवन गत बहादुरी तो लोग बता सकते हैं किन्तु युद्धके लिये जरूरी सामरिक बहादुरी केवल क्षत्रियों का ही स्वधर्म था। और भारत के हमारे जमाने के क्षत्रिय तो काफी पिछड़े हुए थे। क्षत्रिय वर्ग वर्तमान राजनीति से पूरे परिचित भी नहीं थे। और जनता मानती थी कि लश्करी उठाव करना हो तो वह राजाओं का ही काम है। सन् १८५७ के बाद अंग्रेजों ने राजाओं के मन पर और उनके राज्यतंत्र पर ऐसा कुछ प्रभाव डाला था कि उनके द्वारा स्वराज्य का उठाव होने की आशा हम युवकों के मनमें रही नहीं थी। चंद कुछ क्रांतिकारी नेता नेपाल, बड़ौदा और निजाम का नाम लेते थे। लेकिन हम लोगों का उनपर विश्वास नहीं बैठता था। चंद देशी राजालोग अपने विलासी जीवन को सुरक्षित करने के लिये अंग्रेजों को हर तरह की मदद देने को तैयार थे। इस बात को देखकर हम तो देशी राजाओं के बारे में नास्तिक ही बन गये थे।

आशा थी जनजागृति की, सांस्कृतिक पुनरुत्थान की और मनुष्यमात्र के लिये स्वाभाविक स्वातंत्र्य-प्रीतिकी। हमने देखा कि क्रांतिकारी नेताओं की देशभक्ति तो अत्यंत उज्ज्वल थी। क्रांति के लिये हर तरह का त्याग और बलिदान करने के लिये वे तैयार थे। लेकिन लोक-

जागृति के लिये क्या करना चाहिये और क्रांति के लिये कितनी तैयारी जरूरी है इसका पूरा अंदाज उन्हें नहीं है। लोगों में असंतोष और ब्रिटिश राज्य के प्रति विद्रोह पैदा करने का प्रयास तो वे करते ही थे। लेकिन 'ऐसा सामान्य वायुमंडल कितना कारगर है' इसका भी उन्हें पूरा ख्याल नहीं था। परदेश के राज्यों की थोड़ी सहानुभूति प्राप्त की। थोड़े से शस्त्र इधर-उधर से इकट्ठे किये और बलिदान के लिये तैयार हों ऐसे तेजस्वी मुट्ठीभर लोगों का संगठन किया। यहाँ तक तैयारी थी। इसके बाद नेता लोग जागतिक परिस्थितिसे अनुकूलता पाने की आशा रख कर बैठे थे। चंद लोग तो फल-ज्योतिष पर विश्वास रखनेवाले थे। और चंद लोग आध्यात्मिक सत पुरुषोंकी भविष्यवाणी पर अंध-विश्वास रखकर उत्साह में आते थे।

जिनके हाथके नीचे मैं प्रत्यक्ष काम करना था ऐसे लोगोंसे मैं अपनी अस्वस्थता व्यक्त करता था। नेताओं के मनमें और साथियों के मनमें मेरी क्रांति-निष्ठाके बारेमें पूरा विश्वास था, इसलिये मेरी बातें वे आदरसे सुनते थे लेकिन उनसे मुझे संतोषकारक प्रेरणा नहीं मिलती थी।

मेरा गुरिल्ला युद्धमें विश्वास

राजनैतिक क्रांतिके लिये आवश्यक है खुल्लमखुल्ला रणभूमि का युद्ध न सही किन्तु जिसे गुरिल्ला (Guerrilla) युद्ध कहते हैं उसकी तैयारी तो चाहिये ही। उसकी नैतिक योग्यता के बारेमें मेरे मनमें कभी भी शंका नहीं थी। शंका थी फक्त हमारी तैयारी के बारे में और 'तैयारी के हिसाब' के बारे में। एक बात यहां स्पष्ट कर दूं।

दो-चार, पाँच-दस या बीस-पचास अंग्रेजों का खून करने से अंग्रेज लोग यहाँ से चले जायेंगे ऐसा विश्वास मेरे मनमें कभी था नहीं। साथियोंके साथ चर्चा करते मैं हमेशा कहता था कि "अंग्रेज लोग कायरो की औलाद नहीं है। गुप्त ढंगसे पांच-दस अंग्रेजों को मारने से सामान्य जनता पर कड़ा, निर्दय आतंक फैलानेका उनको मौका मिलेगा। वे जनता को दबा देंगे। फिर हमें लोगोंसे पैसे की भी मदद नहीं मिलेगी। अगर जल्दी धन के लिये हमने भारतके धनी लोगों को लूटने का कार्यक्रम चलाया तो हमारी लोकप्रियता भी खतम होगी। हमारे धनी लोगोंकी और अंग्रेजोंकी दोस्ती बनेगी। और अपने देशमें हम शेर और भेड़ियों के जैसे त्रस्त प्राणी बन जायेंगे। हमें तो छुपे युद्ध की तैयारी ही करनी चाहिये। उसके लिये गुप्तता अत्यंत आवश्यक है जो हमारे राष्ट्रीय स्वभाव में नहीं है। मुख्य बात तो हमारे पास हिसाब ही नहीं है कि कितनी तैयारी आवश्यक है और वह कैसे जुटानी चाहिये।"

अनिश्चित मति में शान्तिनिकेतन में गुरुदेव के पास

ऐसी उधेड़बुन में मैं हिमालय चला गया। वहाँ कुदरत की भव्यता का दर्शन करते मैं आध्यात्मिक-साधनाकी ओर मुड़ा। साथ-साथ स्वराज्य-प्राप्तिका चिंतन तो था ही। वह गौण बनना अशक्य था। मेरा घुमक्कड़ स्वभाव मुझे गंगोत्री, जमनोत्री, केदार, बद्री, क्षीर-भवानी, अमरनाथ और पशुपतिनाथ आदि यात्राकी ओर ले गया। वेदान्त-साधना, शक्ति-उपासना और भागवत धर्मके अनुशीलन की ओर जो रुचि थी इसके अंदर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि ने प्रवेश किया। और मैं टागोर-साहित्यका उत्कट-प्रेमी बना। राजनैतिक स्वराज्य और सांस्कृतिक-स्वराज्य का समन्वय ऐसा बेमालूम हुआ कि आध्यात्मिकता की सारी भूमिका ही बदल गयी। तो भी मुझे क्या करना चाहिये इसका निर्णय हो नहीं पाया। मैंने कविवर को एक खत लिखा और कहा कि मैं राष्ट्रीय शिक्षाका एक प्रेमी हूँ। आपके साहित्य से प्रभावित हुआ हूँ। चार छः महीने शान्तिनिकेतन में रह कर आपके शिक्षाके आदर्श और पद्धति का अध्ययन करना चाहता हूँ। इसमें मैंने दो बातें स्पष्ट की। मैंने कहा कि "मैं ऐसा विपन्न नहीं हूँ कि मुझे आपसे तनख्वा माँगनी पड़े। और ऐसा धनी भी नहीं हूँ कि अपने खाने-पीनेका खर्चा दे सकूं। जबतक आपकी संस्था में रहूँगा, जो भी सेवा बता देंगे, करूंगा। खाना और रहने का स्थान मिले तो बस है।'

मैंने दूसरी स्पष्टता की कि राष्ट्रीय शिक्षाकी संस्था चलाने का मुझे काफी अनुभव है। संस्था में सेवा देने वाले 'स्वयं सेवक' कभी-कभी कितने गैर जिम्मेवार होते हैं उसका मुझे अनुभव है। इसलिये आपको वचन देता हूँ कि जब तक आपकी संस्था में रहूंगा संस्था के नियमों का पालन अक्षरशः और भावशः करूंगा।"

शान्तिनिकेतन में गांधीजी से प्रथम मुलाकात

उनका तुरंत जवाब आ गया और मैं शान्तिनिकेतन में अवैतनिक अध्यापक बन गया।

वहाँ मैंने देखा कि दीनबंधु एण्ड्रूज की सिफारिश से गांधीजी के दक्षिण आफ्रिकावाली फिनिक्स सेटलमेन्ट के कई साथी शान्तिनिकेतन में मेहमान के तौर पर रहे हैं। मैंने कर्मवीर गांधीजी के बारे में काफी पढ़ा था, लिखा था। उनकी देशभक्ति के प्रति मेरे मन में काफी आदर था। मेरे एक क्रांतिकारी समय के साथी दक्षिण आफ्रिका जाकर गांधीजी के साथ रह आये थे। उनसे और रंगूनवाले बेरिस्टर जौहरी, डाक्टर प्राणजीवन दास महेता से भी गांधीजी के बारे में

सुना था। गांधीजी के साथियों के साथ शान्तिनिकेतन में चार छः महीने रहने का मौका मिला। यह तो विशेष लाभ हुआ। आखिरकार स्वयं गांधीजी सन् १९१५ में दो दफे शान्तिनिकेतन में आये। उनके साथियों ने गांधीजी के साथ मेरा परिचय कराया था ही। मैंने उनसे अपनी भूमिका की चर्चा की। और अपने राजनैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों के अंदर जो विसंगति था उसका भी जिक्र किया। गांधीजी ने कहा कि "मैं आश्रम कायम के लिये भारत लौटा हूं। अपना एक आश्रम खोलना चाहता हूं। उसमें तुम आ सकते हो।" मैंने कहा, "क्रांतिकारी की हैसियत से अंग्रेजों को धोखा दे सकता हूं। आप तो मेरे देश के नेता हैं। आपको मेरी भूमिका स्पष्ट करनी ही चाहिये। आध्यात्मिक दृष्टि से और मोक्ष की दृष्टि से अहिंसा के रास्ते बहुत हुआ तो दक्षिण आफ्रिका में आप भारतीयों के सिर पर लादा हुआ तीन पौंड का कर हटा सकेंगे। लेकिन जिसे अंग्रेज लोग ब्रिटेन के ताज का कोहिनूर हीरा समझते हैं उस भारत के राज्य से अंग्रेजों को अहिंसा के बल हटाना मैं तो नामुमकिन मानता हूं। स्वराज्य प्राप्ति के लिये हिंसा करके दस दफे नरक जाने को तैयार हूं। संतों की अहिंसा का मुझे आदर है किन्तु स्वराज्य का आग्रह उससे भी अधिक है। ऐसे को आप अपने आश्रम में लेंगे?"

गांधीजी का जवाब था तो सादा। लेकिन सुनकर मैं चकित हो गया।

उन्होंने कहा "दुनिया का बहुमत तुम्हारे ही सिद्धान्त का है। मैं लघुमत में हूं। अहिंसा का सामर्थ्य सिद्ध करने का भार मेरे सिर पर है। तुम्हारे जैसे को आश्रम में मैं न लूं तो मुझे लोग कहांसे मिलेंगे? आश्रम में आओ, रहो, मेरी कार्यपद्धति देखो। मेरी बात जँच गई, विश्वास बैठ गया तो रहो। विश्वास न हुआ तो उड़कर चले जा सकते हो। मैं तुम्हारे पंख काटने वाला नहीं हूँ।"

गांधीजी चले गये। उनके आश्रमवासी भी चले गये। तब मैं गुरुदेव के पास गया। मैंने कहा "आपके शान्तिनिकेतन में मैं चार छः महीने रहने को आया था। आपने मुझे थोड़े ही दिन पहले शान्तिनिकेतन में काम के लिये रहने का आमंत्रण दिया। मैंने एक तरह से आपके आमंत्रण को स्वीकार भी किया। मेरी कठिनाई दूर करने के लिए आपने मुझे कहा कि शान्तिनिकेतन में न रहना हो तो विधुशेखर शास्त्री की मदद से मैं 'विश्वभारती' खोलनेवाला हूं उसमें दाखिल हो सकते हो। मैंने आपको अपना हृदय अर्पित किया है। आपका तत्त्वज्ञान और आपका साहित्य पढ़कर मैं प्रभावित हुआ हूं। आपके वायुमंडल में रहकर सेवा करने का मौका मिले यह मैं एक असाधारण गौरव समझता हूं। लेकिन इन दिनों गांधीजी से मेरी जो बातचीत हुई है उस पर से मुझे लग रहा है—मुझे

माफ कीजिये दिलकी बात खोलकर कहे बिना चारा नहीं—जिस स्वराज्य प्राप्तिके लिये मैं तड़प रहा हूं। अथवा यूँ कहूं जिस स्वराज्य के लिए ही मैं जी रहा हूं वह गांधीजी के प्रयत्न से जल्दी नजदीक आयेगा। मैं आशा करता हूं कि अगर उनके पास में गया तो आपके आशीर्वाद मुझे मिलेंगे।”

शायद गांधीजी ने भी मेरे बारेमें गुरुदेव से कुछ बातचीत की होगी। गुरुदेव के आशीर्वाद मैं प्राप्त कर सका।

(२)

अपने जीवनके अत्यंत महत्त्वके दिनोंमें मैं इन दो युगपुरुषोंका किस तरह परिचय पा सका इसका वर्णन संकोचके साथ किन्तु विस्तार से मैंने दे दिया है ताकि मेरी तुलनाकी भूमिका स्पष्ट हो जाय।

रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी धार्मिक भूमिका ब्रह्मसमाज की थी। उनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ब्रह्मसमाजके प्रभावशाली साधक और नेता थे। स्वय गुरुदेव लोकोत्तर कवि होने के कारण उनकी जीवन दृष्टि सार्वभौम कलाधर की थी। जीवन शुद्धि के साथ जीवन समृद्धि में माननेवाले यह कवि वैराग्य—साधना में मानते नहीं थे। मूर्तिपूजा, शाक्त-उपासना, अवतारवाद, गुरुमाहात्म्य आदि अनेक बातों में सनातनधर्म से उनका विरोध था। गांधीजी की भूमिका ऊपर-ऊपर से देखे तो भिन्न थी। मूर्तिपूजा के बारे में न उनके मनमें कोई उत्साह था, न उसका वे तनिक भी विरोध करते थे। वर्णाश्रम-व्यवस्था, अवतारवाद, गुरु-पूजा, त्याग और वैराग्यकी साधना आदि असंख्य बातों में वे अपने ढग के सनातनी थे। 'सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह' वाली संस्कृतिके वे ज़बरदस्त पुरस्कर्ता थे। हालाँकि सत्यके अनन्य उपासक और प्रयोगी होने के कारण हर क्षेत्र में उनकी अपनी निजी शुद्ध दृष्टि थी। उनका विश्वास था कि अपनी निजी शुद्ध दृष्टिका स्वीकार सनातन समाज के द्वारा वे करा सकेंगे। व्यापक और सार्वभौम सनातन दृष्टि से अलग होना न उनके लिये शक्य था, न इष्ट था। उनका सत्य जीवन का चैतन्यमय सत्य था। वह शाब्दिक या यांत्रिक नहीं था। तर्क के साँचेमें सत्य को बैठाने की आवश्यकता वे महसूस नहीं करते थे। उनकी सनातनी श्रद्धा सत्यके और अनुभवके खिलाफ कभी भी जा नहीं सकती थी।

ब्रह्मचर्य, त्याग और वैराग्य को माननेवाले तथा वर्ण और आश्रमका अपने ढंगसे समर्थन करनेवाले गांधीजी और ब्राह्मधर्मी रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बीच जो गहरी खाई दीख पड़ती थी उससे मैं कभी भी अस्वस्थ नहीं हुआ। गुरुदेवकी कलात्मक दृष्टि जीवन देवता की ही उपासक थी।

किन्तु वे जीवनद्रोही विलासिताको और विकृतिको विश्री कहकर उसका विरोध करते थे। महात्माजी और गुरुदेव दोनों जीवनकी स्वच्छता और संयमको मान्य समझते थे। इसलिये तत्त्वतः दोनों में विरोध नहीं था।

गांधीजी और गुरुदेव मानवता के उपासक

गुरुदेव बुद्ध भगवान के जीवन से और उनकी वाणीसे प्रभावित थे। ब्राह्मदर्शन के साथ बौद्धदर्शन का समन्वय करते उनको तनिक भी कठिनाई नहीं थी। बुद्ध भगवान ने हिंदू धर्म में जो सुधार किया वह गांधीजी को भी इष्ट था। बुद्ध भगवान के धर्म प्रचार से समस्त एशिया कितना प्रभावित हुआ है और आजकल की पश्चिम की संस्कृति पर भी बुद्ध भगवान के कार्य का जो असर हो रहा है उसे गांधीजी जानते थे। उनका तो कहना था कि बुद्ध भगवान ने जो सुधार अथवा युगकार्य किया, हिंदूधर्म और सस्कृति ने अधिकांश अपनाकर आत्मसात् कर डाला। वे कहते थे कि हिंदू धर्म ने बौद्ध धर्म का भारत में बहिष्कार या नाश नहीं किया किन्तु उसे हजम करके आत्मसात ही किया है। (ऐसा नहीं होता जो सनातन हिंदूधर्मी बुद्धभगवान को ईश्वर का नववाँ याने चालू अवतार घोषित नहीं करते।)

गुरुदेवकी स्वराज्य-निष्ठा बंग भंग के पहले और बंग भंगके बाद उनके तेजस्वी जीवनसे स्पष्ट होती ही थी। उन्होंने बंग भंग के आंदोलन के दिनों में स्वदेशी का बड़े उत्साहसे स्वागत किया। विदेशी माल का बहिष्कार करके उनको संतोष नहीं होता। वे तो विदेशी संस्कृतिका अंधा अनुकरण देखकर चिढ़ जाते थे। लेकिन जब उन्होंने देखा कि बहिष्कार का आंदोलन सदाचार का बंधन भी कबूल नहीं करता, जब उन्होंने देखा कि राष्ट्रभक्ति एक नशा बनकर दुराचार का भी समर्थन कर सकती है तब उन्होंने एकाएक सारे आंदोलनमें से अपने को खींच लिया। लोकप्रियता नष्ट हो जायेगी ऐसे डर को अपने को छूने नहीं दिया। और अपनी राष्ट्रीयताको अंध-राष्ट्रपूजा बनने से बचाया। शुद्ध दृष्टि से सोचने को जो तैयार हैं उनके लिये टागोर की राष्ट्रीयता और गांधीजी की राष्ट्रीयता में कुछ भेद नहीं है। दोनों आंतर-राष्ट्रीयता के समर्थक थे। और मानवता के पूरे-पूरे और एक से उत्साही उपासक थे।

अपनी 'विश्वभारती' के द्वारा जब गुरुदेव सारी दुनियाके साथ सहयोग बढ़ाना चाहते थे उन्हीं दिनों जब गांधीजी ने 'भारतमें मजबूत हुए ब्रिटिश साम्राज्य' को और उसके राज्यतंत्र को शैतानी घोषित किया और उसके साथ असहयोग करने की राष्ट्र को सिफारिश की तब गुरुदेव बहुत दुःखी हुए और उन्होंने अपना मतभेद स्पष्ट शब्दों में जाहिर किया। गांधीजी ने बड़े

प्रेम से, आदर से (और नम्रता से) अपना समर्थन किया। दोनोंके बीच मनमुटाव तो क्या मानसिक विरोध भी दृढ़ हो नहीं सके। गुरुदेवका आंतर राष्ट्रीय सहयोग और आदान-प्रदान सांस्कृतिक था। गांधीजी का असहयोग ब्रिटिश राजसत्ता और राजतंत्रके साथ था। ब्रिटिश साम्राज्य-नीति की शैतानियत का घोर विरोध करने वाले गांधीजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि अंग्रेज प्रजा, उनकी संस्कृति और उनकी मानव सेवाके प्रति तनिक भी द्वेष या अनादर नहीं है। ब्रिटिश सल्तनत के साथ जो असहयोग है वह भी ब्रिटिश-नीति को शुद्ध करनेके हेतु ही है। साम्राज्यवादी स्वार्थी और अभिमानी ब्रिटिश-नीति ने हर तरह का सहयोग अशक्य कर डाला। इसका दुःख और इसकी वेदना जाहिर करनेके लिये ही भारतने असहयोग की नीति अपनायी है। इसके अंदर हेतु तो शुद्ध सहयोग स्थापित करना ही है।

दोनों रचनात्मक संस्थाएं चलानेवाले

गुरुदेवने शान्तिनिकेतनकी स्थापना की, श्रीनिकेतन चलाया, विश्वभारतीकी नींव डाली। इन संस्थाओंकी स्थापनाके पहले पूर्व बंगालमें अपने ही गाँवमें परस्पर सहकारके प्रयोग चलाये। यह सारा उनका रचनात्मक कार्यक्रम ही था। गांधीजी ने भी बचपनसे अपने घरमें और बाहर 'नवजीवनके प्रयोग' चलाये। व्यापक सहयोगका वायुमंडल आजमाया। आफ्रिका का टालस्टोय फार्म, फिनिक्स सेटलमेन्ट, भारत में आने पर सत्याग्रहाश्रम का प्रयोग, गुजरात विद्यापीठ की स्थापना और भारत व्यापी खादीकार्य, हरिजन-सेवा, मद्य-पान-निषेध, गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमका विस्तार अनगिनत है। गुरुदेव और गांधीजी सच्ची देशभक्तिसे प्रेरित हुए थे। जनता की सेवा किये बिना उनसे रहा नहीं जाता था। सामाजिक जीवन, धार्मिक जीवन और सांस्कृतिक जीवन शुद्ध, समर्थ और समृद्ध किये बिना उनको संतोष कैसे हो सकता था?

दोनों देशभक्त स्वदेशी, स्वाश्रय और स्वाभिमान के एक से 'चैतन्यमयी-मूर्ति' थे।

गुरुदेव और गांधीजी दोनोंने संस्थाओंके द्वारा जितना रचनात्मक काम किया उससे अनंत गुना काम अनेक परिवारों के जीवनमें प्रवेश करके किया है। गुरुदेवने जो उपन्यास और लघुकथाएं लिखी हैं उन्हें भी पाठकोंके लिए जीवनमें प्रवेश के प्रयोग ही मैं समझता हूं।

मैंने गुरुदेव के ब्राह्मसमाजी संस्कारों का जिक्र तो किया लेकिन मुझे कहना चाहिये कि उनकी अध्यात्मा कट्टर ब्राह्मसमाजी नहीं थी। वे कवि थे, समाज-विज्ञानके अनुभवी थे। भारतीय संस्कृतिके प्रति उनमें असाधारण आत्मीयता और आदर था। शिक्षा द्वारा नवयुवकों की और

समस्त समाजकी सेवा करनेवाले आचार्यकी सहानुभूति और दीर्घदृष्टि उनके पास थी। विश्व संस्कृति का उन्हें परिचय था। इसलिये उनका जीवन-दर्शन विशुद्धिके साथ सार्वभौम सहानुभूतिसे भरा हुआ था। सामान्य जनताके जीवनके साथ प्रत्यक्ष सेवाके द्वारा गांधीजी जितने ओतप्रोत और एक रूप हुए थे उतना अनुभव गुरुदेवका शायद नहीं था लेकिन कल्पना द्वारा जीवनके सब स्तरोंके साथ एक रूप होनेकी कला उनमें थी ही। गुरुदेव ने आंतर राष्ट्रीय सौमनस्य का जो कार्य किया उसकी कदर गांधीजी ने गौहाटी कांग्रेसके बाद जो लेख लिखा था उसके अंदर राष्ट्रीय दृष्टिसे एकवाक्य से की थी।

मेरे जैसे भारतवासी को गांधीजी और गुरुदेवमें आदर्शोंका, कार्य-पद्धतिका और सहानुभूतिका साम्य दीख पड़े तो आश्चर्य ही क्या? मिस्टर एण्ड्रूज और पियर्सन जैसे विदेशी लोगोंको भी इन दो विभूतियोंमें असाधारण साम्य दीख पड़ा था।

दोनों के स्वभावमें, कार्य-पद्धति में और कार्यक्षेत्र में इतना बड़ा अंतर होते हुए भी दोनों के चारित्र्य में, जीवनके आदर्शों में और उनके युगकार्यमें असाधारण साम्य दीख पड़ता है। और दोनोंका कार्य इतना कुछ परस्पर पोषक था और आज भी है कि मेरे जैसा आस्तिक निःशंक होकर कहेगा कि 'परमात्मा ने अपने ही कार्यके दो विभागों को इरादापूर्वक इन दो विभूतियों को सौंप कर उनके द्वारा अपना एक ही विराट्कार्य सिद्ध किया।'

महात्मा गांधी और रामनाम

सत्यनारायण शर्मा

गांधीजी के मानस में राम के प्रति श्रद्धा-भक्ति का बीजारोपण बचपन में ही उनकी दाई के द्वारा किया गया था। उस समय वे भूत-प्रेत आदि से डरा करते थे। उसने उन्हें बताया कि इसकी दवा 'रामनाम' है। पर राम-नाम की अपेक्षा दाई पर उनकी अधिक श्रद्धा थी। अतः शैशवावस्था में भूत-प्रेत आदि से बचने के लिए उन्होंने राम-नाम का जप शुरू किया। गांधीजी के ही शब्दों में "राम-नाम जो आज मेरे लिए एक अमोघ-शक्ति हो गया है, उसका कारण वह रमा बाई का बोया हुआ बीज ही है।"[1] इसी समय रामायण पारायण एवं श्रवण का भी उन्हें अवसर मिला और इसका भी उनके दिल पर गहरा प्रभाव पड़ा। "रामायण पर जो मेरा अत्यंत प्रेम है, उसका पाया यही रामायण-श्रवण है। आज मैं तुलसीदास की रामायण को भक्ति-मार्ग का सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूँ।"[2] गांधीजी को किशोरावस्था में ही अनुकूल वातावरण के कारण सब सम्प्रदायों के प्रति समान भाव रखने की शिक्षा अनायास मिल गयी थी। वैष्णव-परिवार में जन्म होने के कारण इन्हें बार-बार माता-पिता या भाई के साथ वैष्णव-मंदिर एवं शिवालय जाना होता था। इनके पिताजी के पास बराबर कोई न कोई जैन धर्माचार्य आ कर कुछ न कुछ धर्म-चर्चा किया करते थे। उनके मुसलमान और पारसी मित्र भी अपने-अपने धर्म की बातें उन्हें सुनाते और इन अवसरों पर गांधीजी भी प्रायः उपस्थित रहा करते थे। पर अभी तक उनके हृदय में ईश्वर के प्रति श्रद्धा नहीं हो पायी थी।[3] फिर बैरिस्टरी की पढ़ाई के प्रसङ्ग में विलायत में रहते हुए उनको दो थियोसोफिस्ट (ब्रह्मवादी) मित्रों से भेंट हुई। उन्होंने गांधीजी से गीता की बात चलाई और उनके साथ इनका गीता-वाचन प्रारंभ हुआ। गांधीजी के ही शब्दों में "तब मुझे प्रतीत हुआ कि भगवद्गीता तो अमूल्य ग्रंथ है। यह धारणा दिन-दिन अधिक दृढ़ होती गई—और, अब तो तत्त्वज्ञान के लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूं।"[4] इसी अरसे में उन्होंने एर्नाल्ड लिखित बुद्ध-चरित्र, ईसाइयों की बाइबिल और कार्लाइल की "विभूतियां और विभूति-पूजा" का भी अवलोकन किया। नास्तिकवाद के विषय में भी एक पुस्तक पढ़ी। मिसेज बेसेंट की "मैं थियोसोफिस्ट कैसे हुई?"

---

१. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, ले०—मोहनदास करमचंद गांधी, प्रकाशक—सस्ता साहित्य मंडल नई दिल्ली, (१९४६) पृ० ३८।

२. वही, पृ० ३९।

३. वही, पृ० ४०।

४. वही, पृ० ८१।

पुस्तिका उन्होंने पहले ही पढ़ रखी थी।[५] ईसाई मित्रों के संपर्क के कारण गांधीजी वेलिंगटन के एक ईसाई सम्मेलन में भी सम्मिलित हुए। इस "धार्मिक मंथन" की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं—"सिद्धांत की दृष्टि से ईसाई सिद्धांतों में मुझे अलौकिकता न दिखाई दी। त्याग की दृष्टि से हिन्दू-धर्मवालों का त्याग मुझे बढ़कर मालूम हुआ। अतः ईसाई धर्म को मैं संपूर्ण अथवा सर्वोपरि धर्म न मान सका।...

परंतु एक ओर जहां मैं ईसाई धर्म को ग्रहण न कर सका वहां दूसरी ओर हिंदू धर्म की संपूर्णता अथवा सर्वोपरिता का भी निश्चय मैं इस समय तक न कर सका। हिंदू धर्म की त्रुटियां मेरी आंखों के सामने घूमा करतीं। अस्पृश्यता यदि हिंदू धर्म का अंग हो तो वह मुझे सड़ा हुआ अथवा बढ़ा हुआ मालूम हुआ। अनेक संप्रदायों और जात-पांत का अस्तित्व मेरी समझ में न आया। वेद ही ईश्वर प्रणीत है, इसका क्या अर्थ! वेद यदि ईश्वर प्रणीत है, तो फिर कुरान और बाइबिल क्यों नहीं?"[६]

इधर गांधीजी के मुसलमान मित्र हमेशा इस्लाम की खूबियों की चर्चा कर उसके अध्ययन के लिए उन्हें प्रेरित एवं प्रोत्साहित करते थे। उन्होंने सेल-कृत कुरान खरीदा और पढ़ना शुरू किया। दूसरी इस्लामी पुस्तकें भी मंगाईं। "धार्मिक-मंथन" को लेकर विलायत के ईसाई-मित्रों और गुजरात के कवि रायचंद भाई एवं अन्यान्य धर्मशास्त्रियों से भी उनका पत्र-व्यवहार बराबर चलता रहा। पत्रों के उत्तर आते। पुस्तकें तथा उनकी सूचियाँ आतीं और गांधीजी तमाम पुस्तकें पढ़ते।[७] इस "धार्मिक-मंथन" एवं "धर्म-निरीक्षण" के क्रम में भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक ग्रंथों के गंभीर अध्ययन से उन्हें यह स्पष्ट प्रतीत हुआ कि संसार के जितने भी धर्म हैं, सब के सब ऊँचे हैं। उनमें कोई कसर नहीं है। यदि कसर है तो उनके अनुयायियों में है। वस्तुतः एक ईश्वर में विश्वास कराना ही सभी धर्मों का मूलाधार है। धर्म जुदा-जुदा रास्ते हैं पर उनका गन्तव्य स्थान एक ही है। ऐसे किसी समय की कल्पना नहीं की जा सकती जब पृथ्वी पर व्यवहार में एक ही धर्म होगा। अतः अपने अपने संप्रदाय, मत एवं विश्वास या अपनी भावना के अनुसार भगवान् के किसी भी नाम-रूप की उपासना की जा सकती है। ईश्वर के अनन्त नाम हैं, उसकी अगणित विभूतियाँ और व्याख्याएँ हैं जिसे

५. वही, पृ० ८२-८४।

६. वही, पृ० १५९-१९०।

७. वही, पृ० १६०—१६१; पृ० १८५।

जो सुंदर एवं रुचिकर लगे वह उसकी पूजा और जप करे। यथार्थ में राम, रहमान, अहुरमज़्द, गाड, कृष्ण, करीम ये सब उस अदृश्य शक्ति को, जो सब शक्तियों में बड़ी है कोई नाम देने के मानव प्रयत्न हैं। भिन्न-भिन्न नामों से संबोधित किया जानेवाला वह सारे संसार का एक ही प्रभु सभी प्राणियों के हृदय में, सत्य में और अहिंसा में विद्यमान है। अतः प्राणी-मात्र की सेवा द्वारा, सत्य और अहिंसा की साधना द्वारा उसका साक्षात्कार संभव है। इस वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ होने के कारण ही समस्त संसार के आकाश पर भयङ्कर विपत्तियों के बादल मँडरा रहे हैं। इस महान् सत्य के साक्षात्कार के पश्चात् जब गांधीजी ने राजनीति के माध्यम से भारतीय जनजीवन में पदार्पण किया तब उनकी राजनीति इसी सर्वधर्मसमभाव की मूलभित्ति पर आधारित हुई। अपनी प्रार्थना में अधिकाधिक सामूहिकता लाने की दिशामें वे सदैव प्रयत्नशील रहे और धीरे-धीरे उन्होंने सभी धर्मों की प्रार्थनाओं को अपनी प्रार्थना में सम्मिलित कर लिया। परन्तु उनकी अपनी व्यक्तिगत सर्वाधिक निष्ठा अन्त तक भगवान् राम में ही बनी रही। उनका अखंड विश्वास था कि जो कुछ है, सब राम का है और सब राम के लिए है। वही उनसे काम ले रहा है और जब तक जरूरत समझेगा, काम लेता रहेगा। जब उनसे कोई पूछता था कि "राम कौन है?" तो वे कह देते थे—"अन्तर्यामी"। एक सज्जन के इसीतरह के प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था कि हिन्दू धर्म में बहुत लोग राम-कृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं। उनका विश्वास है कि वे ही ईश्वर के रूप में पृथ्वी पर आये और उनकी पूजा से व्यक्ति मुक्ति पाता है। पर इस विषय में इतिहास, कल्पना और शुद्ध सत्य इस तरह परस्पर ओत-प्रोत हैं कि उनको पृथक् करना असंभव है। "मैंने अपने लिए ईश्वर की सब संज्ञायें रखी हैं। और उन सब में मैं निराकार, सर्वस्थ रामको ही देखता हूं। मेरे लिए मेरा राम सीतापति दशरथनन्दन कहलाते हुए भी वह सर्वशक्तिमान ईश्वर ही है, जिसका नाम हृदय में होने से मानसिक, नैतिक और भौतिक सब दुःखों का नाश हो जाता है।"[८]

गांधीजी ने अनेकानेक विकट प्रसंगों में रामनाम से दुःख-निवारण का अच्छा अनुभव किया था और यही कारण है कि "हारिये न हिम्मत बिसारिये न हरिनाम जाहि विधि राखे राम ताही विधि रहिये" को ही उन्होंने अपने जीवन का मूलमंत्र बना लिया था। अपने दूसरे लड़के मणिलाल की सख्त बीमारी के अवसर पर डाक्टर के बहुमूल्य परामर्श के बावजूद उसे अंडे और शोरवा न देकर उन्होंने रामनाम के बल पर जल-चिकित्सा से ही उसे स्वस्थ किया

८. रामनाम, गांधीजी, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर अहमदाबाद, पृ० १९।

था। अपनी आत्मकथा के इस "धर्म संकट" शीर्षक का उपसंहार करते हुए वे लिखते हैं—"इसका निर्णय कौन कर सकता है कि यह रामजी की कृपा है या जलचिकित्सा, अल्पाहार अथवा और किसी उपाय की? भले ही सब अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार करें; पर उस वक्त मेरी तो ईश्वर ने ही लाज रखी। यही मैंने माना और आज भी मानता हूँ।"९ इसी तरह एक अन्य व्यक्तिगत बहुत लंबी बीमारी में, जो कि गंभीरता के ख्याल से बापू के जीवन में पहले-ही-पहल हुई थी, उन्हें धर्म-निरीक्षण करने का तथा उसे कसौटी पर चढ़ाने का अलभ्य लाभ मिला था।१० अपने जीवन के अनेकानेक अन्यान्य अनुभवों के आधार पर गांधीजी जोरदार शब्दों में लिखते हैं—"... रामनाम के प्रताप से पत्थर तैरने लगे, रामनाम के बल से वानर-सेना ने रावण के छक्के छुड़ा दिये, रामनाम के सहारे हनुमान् ने पर्वत उठा लिया और राक्षसों के घर अनेक वर्ष रहने पर भी सीता अपने सतीत्व को बचा सकी, भरत ने चौदह साल तक प्राणधारण कर रक्खा, क्योंकि उनके कण्ठ से रामनाम के सिवा दूसरा कोई शब्द न निकलता था। इसलिये तुलसीदास ने कहा कि कलिकाल का मल धो डालने के लिये रामनाम जपो।

"मैं अपना अनुभव सुनाता हूँ मैं संसार में यदि व्यभिचारी होने से बचा हूँ तो रामनाम की बदौलत। मैं ने दावे तो बड़े बड़े किये हैं परंतु यदि मेरे पास रामनाम न होता तो स्त्रियों को मैं बहिन कहने के लायक न रहा होता। जब-जब मुझ पर विकट प्रसंग आये हैं, मैं ने रामनाम लिया है और मैं बच गया हूँ। अनेक संकटों से रामनाम ने मेरी रक्षा की है।"११

गांधीजी का उपर्युक्त अनुभव एकाकी नहीं है। ईश्वर के नाम को महिमा सभी धर्मों ने प्रायः समान रूप से गायी है। संसार के सभी संतों ने एक स्वर से इस तथ्य की पुष्टि की है कि किसी रूप में हृदय से भगवन्नाम लेना एक महती शक्ति का सहारा लेना है। भिन्न-भिन्न धर्म भिन्न-भिन्न भाषाओं, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों एवं भिन्न भिन्न

---

९. आत्मकथा, पृ० २८८।

१०. वही, "मृत्यु शय्या पर" शीर्षक, पृ० ५२३-५२८।

११. हिन्दी नव जीवन ३०-४-२५; द्रष्टव्य—आत्मकथा, "दुःखद-प्रसंग—२" शीर्षक, पृ० २८; "निर्बल के बल राम" शीर्षक, पृ० ८६-८७; "और कष्ट" शीर्षक, पृ० १३४-१३५; "तूफान के चिह्न" शीर्षक, पृ० २१४-२१५।

दृष्टियों से लिखे गये हैं पर नाम महिमा के वर्णन में उनमें कोई दृष्टिभेद या विचारभेद नहीं हो पाया है। इस विषय में कोई धर्म या कोई भाषा किसी धर्म या किसी भाषा से पीछे नहीं है। और फिर यह राम नाम तो भारत के असंख्य कंठों से निकलता आया है। सैकड़ों साधु संतों ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, रोग, भय आदि के निवारण के लिये रामनाम की सर्वोपरि महत्ता स्वीकृत की है। हिन्दू-समाज में महान्-से-महान् ऋषि-मुनि से लेकर तुच्छ-से-तुच्छ व्यक्ति तक इसी नाम का आश्रय लेता रहा है। अतः रामनाम के उच्चारण से असंख्य हिन्दुओं पर जो फौरन असर होगा वह किसी दूसरे नाम से नहीं क्योंकि चिरकाल के प्रयोग से और उन के उपयोग के साथ संयोजित पवित्रता से इसे अपरिमित शक्ति प्राप्त हो गयी है। यही कारण है कि गांधीजी ने भी इसी नाम पर अपनी अटूट श्रद्धा व्यक्त की। यह नाम हल्का पड़ता है यह कहकर उन्होंने कोई नवीन आदर्श नाम को नहीं पकड़ा। राम के संबंध में अनेक पूर्ववर्ती संतों एवं महापुरुषों के जो अनुभव थे उनकी उपेक्षा या उनपर अविश्वास नहीं कर के गांधीजी ने उन से पूरा पूरा लाभ उठाया और उन गुरुजनों के द्वारा प्रदर्शित इसी सुनिश्चित एवं प्रशस्त राजमार्ग पर चलना ज्यादा सुरक्षित समझा। गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित "कल्याण" के भगवन्नामाङ्क में आप लिखते हैं —"नाम की महिमा के बारे में तुलसीदास ने कुछ भी कहने को बाकी नहीं रक्खा है। द्वादशाक्षर मंत्र, अष्टाक्षर इत्यादि सब इस मोहजाल में फँसे हुए मनुष्य के लिये शान्तिप्रद हैं। इस में कुछ भी शंका नहीं है। जिस से जिस को शान्ति मिले, उस मन्त्र पर वह निर्भर रहे। परंतु जिस को शान्ति का अनुभव ही नहीं है और जो शान्ति की खोज में है उस को तो अवश्य रामनाम पारसमणि बन सकता है। ईश्वर के सहस्र नाम कहे हैं, उसका अर्थ यह है कि उसके नाम अनन्त हैं, गुण अनन्त हैं। इसी कारण ईश्वर नामातीत और गुणातीत भी है। पर देहधारी के लिये नाम का सहारा अत्यावश्यक है और इस युग में मूढ़ और निरक्षर भी रामनामरूपी एकाक्षर मन्त्र का सहारा ले सकता है। वस्तुतः राम उच्चारण में एकाक्षर ही है और ओउम् और राम में कोई फरक नहीं है। परतु नाममहिमा बुद्धिवाद से सिद्ध नहीं हो सकती है। श्रद्धा से अनुभवसाध्य है।" यों तो आये दिन की बुद्धिवादी दुनिया में श्रद्धा एक विचित्र ढंग से व्यंग का विषय बनी हुई है पर गांधीजी ने इस विषय पर बार-बार बल दिया है कि बुद्धिवाद की भयावहना से एकमात्र श्रद्धा ही हमारी रक्षा कर सकती है। उन्हीं के शब्दों में—"प्रलोमनों के आगे बेचारी बुद्धि की कुछ भी नहीं चलती। वहाँ तो श्रद्धा ही हमारी ढाल बन सकती है। बुद्धि तो उन्हीं लोगों का साथ देती दीखती है जो छूट से शराब पीते और व्यभिचार

करते।.. ..जो श्रद्धा बुद्धि से परे है वही अनन्त काल से हमारा एकमात्र आधार रही है।"१२

राम में गांधीजी की यह श्रद्धा एवं निष्ठा उत्तरोत्तर इतनी दृढ़ एवं बलवती होती गयी कि वे जीवन के उत्तरार्द्ध में सर्वतोभावेन इसी पर अवलंबित हो गये। वे यहां तक कहने लगे कि सभी शारीरिक, मानसिक या आत्मिक व्याधियों की दवा भी एकमात्र रामनाम ही है। १९, १२, ४४ के अपने "रोज़ के विचार" में वे लिखते हैं—"व्याधि अनेक हैं, वैद्य अनेक हैं, उपचार भी अनेक हैं। अगर व्याधि को एक ही देखें और उसको मिटानेहारा वैद्य एक राम ही है ऐसा समझें, तो बहुत सी झंझटों से हम बच जाँय।"१३ ३०, १२, ४४ के "रोज़ के विचार" में आप इसी तथ्य का यों स्पष्टीकरण करते हैं—"आश्चर्य है, वैद्य मरते हैं, डाक्टर मरते हैं, उनके पीछे हम भटकते हैं। लेकिन राम जो मरता नहीं है, हमेशा जिंदा रहता है और अचूक वैद्य है उसे हम भूल जाते हैं।"१४ बापू के विचार से 'कोई भी व्याधि हो यदि मनुष्य हृदय से राम नाम ले तो व्याधि नष्ट होनी ही चाहिए।"१५ अपनी मृत्यु से ठीक एक वर्ष पूर्व ३०, १, १९४७ को बापू नोआखाली के आमकी नाम ग्राम में बुरी तरह अस्वस्थ हो गये थे। मनु बहन ने उनको देख-रेख के लिए एक सज्जन को पुकारा और पास के देहात से एक बहन को बुलाना चाहा। पर बापू को ये बातें बिलकुल नहीं रुचीं। उस समय उन्होंने मनु बहन को और कुछ न करके सिर्फ सच्चे दिल से रामनाम लेते रहने का आदेश दिया था।१६ १७,१०,४७ को प्रार्थना सभा में प्रवचन प्रारंभ करते हुए वे कहते हैं—"भाइयों और बहनों, मेरे पास खत भी आये हैं और यों भी जो लोग सुनते हैं वे बताते हैं कि मेरी खांसी अबतक मिटी नहीं है। मैं प्रार्थना के बाद जब कुछ कहता हूं तो भी खांसी आ जाती है। मैं डाक्टर या वैद्य की दवाई नहीं करता हूं। डाक्टर कहते हैं कि जो तीन दिन में खत्म होनेवाली चीज है उस को तीन सप्ताह लग गए। पेनिसिलीन लेने से तीन दिनों में ठीक

---

१२. हरिजन सेवक ३०,१२,३९ ; द्रष्टव्य—रामनाम, पृ० ७ (हिन्दी नवजीवन २२,१,१९२५)

१३. बापू के आशीर्वाद (रोज़ के विचार), ले०—मो० क० गांधी, प्रकाशक—आनंद हिंगोरानी, ७ एडमान्स्टन रोड, इलाहाबाद, पृ० ८०-८१।

१४. वही, पृ० ८२-८३।

१५. हरिजन सेवक ३,३,४६ ; द्रष्टव्य—हरिजन सेवक ७,४,४६ तथा २६,६,४६।

१६. बापू—मेरी मां, मनुबहन गांधी, नव जीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, पृ० ३१-३३।

हो सकती है। लेकिन मैं समझता हूं कि रामनाम सबसे ऊंची दवा है। वह रामबाण दवा है। जैसे राम का बाण काम करता था और जा कर कभी निष्फल नहीं होता था, वैसे ही यह दवा कभी निष्फल नहीं जाती। लेकिन धीरज तो चाहिए।"१७ इसी प्रसङ्ग में वे आगे कहते हैं "आज जो काम कर रहा हूँ वह राम का नाम लेकर कर रहा हूं। उस पर मेरी श्रद्धा है। तो क्या वजह है इस मामूली व्याधि के लिए छोड़ दूं। या तो यह व्याधि दूर हो जाती है या मुझ को दूर कर देती है। आदमी मर जाता है तो कौन सी बड़ी बात है? सब के जन्म के साथ मरण भी लिखा है। अगर राम को मुझ से काम लेना है तो जिंदा रखेगा और अगर नहीं लेना है तो मुझे इसी खांसी से मार डालेगा। अभी लड़की ने जो रामनाम का भजन गाया है उस में कहा है कि तू राम नाम ले, तू काम को भूल जा, क्रोध को भूल जा, राग को भूल जा, मोह को भूल जा, लेकिन रामनाम को मत भूल वही तेरा सहारा है। भजन को गाना और चिंतन करना तेरा काम है। लेकिन ऐसे मौके पर जब खांसी आती है तो डाक्टर या वैद्य बताते हैं कि तू पेनिसिलीन ले। वहां राम नाम कहां आया। जब इसी छोटे काम में राम नाम पर श्रद्धा नहीं होगी तो बड़े काम में उससे मैं कैसे सफल होऊंगा।"१८ आगा खाँ महल के २१ दिनों के उपवास की सफलता का रहस्योद्घाटन करते हुए उन्होंने १४. ११. ४७. की प्रार्थना-सभा में कहा था "उसके बारे में मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि उन २१ दिनों तक मैं जो टिका रहा, उसकी वजह वह पानी नहीं था, जो मैं पीता था, न वह संतरे का रस ही था जो कुछ दिनों तक मैं ने लिया था, जो मेरी गैर मामूली डाक्टरी देख रेख हो रही थी, वह उसका कारण नहीं थी, मगर मैं ने अपने भगवान को, जिसे मैं राम कहता हूँ अपने दिल में बसा रखा था, उसी वजह से मैं टिका रहा।"१९ अपनी मृत्यु के एक दिन पहले एक भाई के पास भेजे हुए पत्र में उन्होंने लिखा था—"इसबार किडनी और लिवर दोनों बिगड़े हैं। मेरी दृष्टि से यह रामनाम में मेरे विश्वास के कच्चेपन की वजह से है।"२० बापू के जीवन के उपर्युक्त सारे प्रसङ्ग किसी परम रामभक्त के अविचारित उद्‌गार के द्योतक नहीं हैं प्रत्युत इनमें व्यक्तिगत अनुभूति की सचाई के साथ ही साथ "वैद्यो नारायणो हरिः" वाली भारतीय आस्था की प्रांजल

---

१७. प्रार्थना प्रवचन, पहला खंड, (१९४८) सस्ता साहित्य-मंडल, नई दिल्ली, पृ० ४३६।

१८. वही, पृ० ४३७।

१९. प्रार्थना-प्रवचन, दूसरा खंड, (१९४९) सस्ता साहित्य-मंडल, नई दिल्ली, पृ० ७५।

२०. रामनाम, गांधीजी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद पृ० ५५।

प्रतिध्वनि भी है। आज भी महर्षि चरक जैसे ख्यातिप्राप्त भारतीय चिकित्सक की कृति गांधीजी के इस सन्देश का समर्थन कर रही है।२१

काम-विजय एवं रोग-मुक्ति के अतिरिक्त भय-निवारण के लिये भी बापू ने रामनाम का ही शंखनाद किया है। मुसलमानों से भयभीत बंगाल के हिन्दुओं से उन्होंने कहा था—"अगर आप अपने दिल से डर को दूर कर दें तो मैं यही कहूँगा कि आपने मेरी बहुत मदद की। लेकिन वह कौन सी जादू की चीज है, जो आपके इस डर को भगा सकती है? वह है रामनाम का अमोघ मंत्र।....... अगर आप रामनाम में विश्वास करते हैं तो आप को पूर्वी बंगाल छोड़ने की बात नहीं सोचनी चाहिये। जहाँ आप पैदा हुए और पले-पुसे वहीं आपको रहना चाहिए और ज़रूरत पड़ने पर बहादुर मर्दों और औरतों की तरह अपनी आबरू की हिफ़ाजत करते हुए वहीं मर जाना चाहिए।"२२

गांधीजी सामूहिक प्रार्थना में रामधुन को प्रार्थना का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अङ्ग मानते थे। उस समय वे स्वयं हाथों से ताल देते। उनके विचार में स्वरताल एवं भाव सहित रामधुन का गान एक अपूर्व तोष, आनंद एवं ऐक्य का वातावरण प्रस्तुत कर देता है और इससे व्यक्ति तथा समूह दोनों को परम शांति प्राप्त होती है।२३ पर कबीर की तरह बार-बार गांधीजी भी हृदय और मन से रामनाम लेने का आदेश देते हैं। वे कहते हैं—"'मुख में राम बगल में छुरी' वाले बगुला भगत के लिए रामनाम-महिमा तुलसीदास ने नहीं गाई। उनके सीधे पासे भी उलटे पड़ेंगे और जिसने हृदय में राम को स्थान दिया है उसके उलटे पासे भी सीधे पड़ेंगे। .... इसलिए पाठक खूब समझ लें कि रामनाम हृदय का बोल है। जहाँ वाणी और मन में एकता नहीं, वहाँ वाणी केवल मिथ्यात्व है, दम्भ है, शब्दजाल है। ऐसे उच्चारण से चाहे संसार भले धोखा खा जाय पर अन्तर्यामी राम कहीं खा सकता है"?२४ इसी प्रसङ्ग में सीताजी की दी हुई मणिमाला को रामनाम के लिए फोड़नेवाले तथा सुभटों को आपत्ति करने पर हृदय चीरकर रामनाम को दिखला देनेवाले हनुमान की चर्चा करते हुए गांधीजी कहते हैं ...."हो सकता है यह कथा काव्य या नाटककार की रचना हो पर उसका सार

---

२१. चरक चिकित्सा, अ० ३, श्लो० ३११ ; द्रष्टव्य—हरिजन सेवक २४।३।४६।

२२. रामनाम की महिमा—संपादक एवं संग्रहकर्ता श्री विष्णु प्रभाकर, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य मन्दिर, अजमेर (नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद की अनुमति से) द्वितीय संस्करण, पृ० ८९-९० ; द्रष्टव्य—रामनाम, पृ० २७-२८।

२३. हिन्दी नवजीवन ७।३।२९।

२४. रामनाम की महिमा, पृ० ६२-६३।

अनन्तकाल के लिए सच्चा है। जो हृदय में है वही सच है"२५ पर गोस्वामी तुलसीदास२६ की तरह गांधीजी यह भी मानते हैं कि रामनाम के जप या उच्चारण मात्र का भी अपना स्वतंत्र महत्त्व एवं मूल्य है। जब उनसे—"क्या हृदय में हो रामनाम को रखना काफी नहीं है? या उसके उच्चारण में भी कोई खास विशेषता है?"—इस प्रकार के प्रश्न किये गये थे तब उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था कि मेरा विश्वास है कि रामनाम के उच्चारण का विशेष महत्त्व है। जो व्यक्ति जानता है कि राम सचमुच उसके हृदय में हैं, उसे मुँह से रामनाम के उच्चारण की आवश्यकता नहीं, यह मैं मानता हूँ। लेकिन ऐसे किसी व्यक्ति को मैं नहीं जानता। इस से उल्टा मेरा अपना अनुभव कहता है कि मुँह से रामनाम जपने में कुछ अनोखापन है। वह क्यों और कैसे यह जानना ज़रूरी नहीं।२७ एक अन्य स्थल पर वे और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—"मगर रामनाम का निरन्तर जप चलता रहे, तो एक दिन वह आप के कण्ठ से हृदय तक उतर आयेगा और रामबाण उपाय साबित होगा।"२८ जब किसी सज्जन ने उनसे यह प्रश्न किया कि—"सेवा कार्य के कठिन अवसरों पर भगवद्भक्ति के नित्य नियम नहीं निभ पाते तो क्या कोई हर्ज है? दोनों में से किस को प्रधानता दी जाय, सेवा-कार्य को या माला-जप को?" —तब उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था—"कठिन सेवाकार्य हो या उससे भी कठिन अवसर हो, तो भी भगवद्भक्ति यानी रामनाम बन्द हो ही नहीं सकता। उसका बाह्य रूप प्रसंग के मुताबिक बदलता रहेगा। माला छूटने से रामनाम जो हृदय में अंकित हो चुका है, थोड़े ही छूट सकता है?"२९ इसी तरह के एक दूसरे सवाल के जवाब में उन्होंने बतलाया था—"अनुभव कहता है कि मनुष्य किसी भी हालत में हो, चाहे सोता भी क्यों न हो, लेकिन अगर उसे आदत हो गई है और रामनाम हृदयस्थ हो गया है तो जबतक हृदय चलता है तबतक रामनाम हृदय में चलता ही रहना चाहिये।"३०

सचमुच ही गांधीजी ने रामनाम को हृदयस्थ कर लिया था। श्रीहनुमान प्रसाद जी पोद्दार उनके संबंध में अपने "पुराने संस्मरण" सुनाते हुए लिखते हैं कि एकबार बम्बई में श्रीबालूरामजी

---

२५. वही, पृ० ६३ (हि० नं० २१. ५. १९२५); द्रष्टव्य—हिन्दी नवजीवन ३०।४।२५; २४. ९. २५ तथा ७. ३. २९।

२६. भायँ कुभायँ अनख आलस हूँ। नाम जपत मंगल दिसि दस हूँ। मा० १. २८. १।

२७. रामनाम, गांधीजी, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, पृ० १३।

२८. वही, पृ० ६२।

२९. वही, पृ० ९।

३०. वही, पृ० १२।

"रामनाम के आढ़तिया" महात्माजी से मिले और नाम जप के खास समय और संख्या का नियम देते हुए उनसे अपनी बही पर सही करने का अनुरोध किया। पर गांधीजी ने मुस्कराकर कहा "जब मैं अफ्रीका में था, तब तो रामनाम की माला बहुत जपा करता था; परन्तु अब तो दिनरात जो कुछ करता हूँ, सब रामनाम के लिए ही करता हूँ। इसलिए मैं खास समय और संख्या के लिए हस्ताक्षर क्यों करूँ।"३१ प्रस्तुत प्रसङ्ग से स्पष्ट है कि बापू हर समय अपने राम में निमग्न रहने लगे थे। उनका सम्पूर्ण जीवन व्यापार, उनकी सारी जन-सेवा राममय हो गयी थी। तभी तो कभी चरखे में, कभी हिन्दू-मुस्लिम एकता में, कभी अस्पृश्यता-निवारण में, कभी सत्य में, कभी अहिंसा में या जब उनकी भावना जिस रूप की ओर खिंच गयी तब उसी रूप में उन्होंने अपने राम का साक्षात्कार किया। एक जगह वे लिखते हैं—"और रामचन्द्र? कौन सिद्ध कर सका है कि रामचन्द्र ने लंका में खून की नदी बहायी थी? दस सिरवाला रावण कब जन्मा था? बन्दरों की फौज किसने देखी थी? रामायण धर्म-ग्रंथ है, रूपक है। करोड़ों लोग जिस राम की पूजा करते हैं, वह राम घट घट व्यापी है। रावण भी हमारे ही शरीर में रहनेवाले दस सिरवाले विकराल विकारों का रूप है। उसके खिलाफ अन्तर्यामी राम सदा युद्ध करता है। वह तो दया की मूर्ति है। अगर किसी ऐतिहासिक राम ने किसी ऐतिहासिक रावण से युद्ध किया भी तो उस से हमें बहुत कुछ सीखने को नहीं मिलता। इन प्राचीन राम-रावण को खोजने की जरूरत? आज तो वे दर दर पड़े हैं। सनातन राम ब्रह्म स्वरूप है, सत्य और अहिंसा की मूर्ति है।"३२ "पूरी प्रार्थना का ब्राडकास्ट" के प्रसङ्ग में एक भाई के पत्र का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा था—"पर मैं एक बात यह भी कहना चाहता हूँ कि मैं जो रोज बोलता हूँ, जो बहस करता हूँ, वह भी प्रार्थना ही है। उसीका हिस्सा है। मेरा यह सब ही भगवान के लिए है।"३३ इस तरह बापू ने "जो कछु करौं सो पूजा" की बहुत ऊँची स्थिति प्राप्त कर ली थी। गोस्वामी तुलसीदास जी की पंक्ति "जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई"३४ को उन्होंने अक्षरशः चरितार्थ

---

३१. कल्याण, भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना अङ्क, वर्ष ३९, अङ्क १, पृ० १७८।

३२. गांधीजी, अहिंसा—प्रथम भाग, खंड १० (नवजीवन अहमदाबाद की आज्ञा से) प्रकाशक—काशी विद्यापीठ प्रकाशन विभाग, बनारस छावनी, पृ० ११९ (हिन्दी नवजीवन, १५ अगस्त १९२९); द्रष्टव्य—रामनाम की महिमा पृ० १९-२०।

३३. दिल्ली-डायरी, मोहनदास करमचंद गांधी, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर अहमदाबाद, पृ० ३१५।

३४. मा० २, १२७, ३ (उत्तरार्द्ध)।

कर दिखाया। राम को जानकर वे राम बन गए और अपने जीवन-काल में ही अवतारी पुरुष माने गये। राष्ट्रकवि श्रीरामधारी सिंह "दिनकर" ने तो अपनी "बापू" शीर्षक कविता में उन्हें कलियुगका साक्षात् कृष्ण घोषित किया है—

"बापू तू कलि का कृष्ण विकल, आया आँखो में नीर लिये,
थी लाज द्रौपदी की जाती, केशव-सा दौड़ा चीर लिये,"

बापू की उत्कट लालसा थी कि जिस दिन, जिस क्षण मैं महाप्रयाण करूँ उस क्षण राम को स्मरण करता रहूँ। और ३० जनवरी ४८ को ही उन्होंने मनुबहन से कहा भी था—"आखिरी दमतक हमें रामनाम रटते रहना चाहिए।"३५ उस दिन अपनी जीवन-लीला समाप्त करते समय बलिदान के अंतिम क्षणों में भी उनकी जिह्वा पर "हे राम" का महामंत्र था। कई जन्मों तक एकनिष्ठ तपस्या करने के बावजूद बड़े-बड़े ऋषि-मुनि जन भी अन्तिम क्षणों में राम को भूल जाते हैं—"जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥"३६ पर गांधीजी ने अपने राम-प्रेम को संसार के सामने सिद्ध कर दिखाया। रामनाम सिद्धि से उन्हें वह स्थिति भी प्राप्त हुई जिसके विषय में भगवान् ने कहा है—

"अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति समद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥३७

आज घोर नास्तिकता एवं अनास्था की ओर हमारा प्रगाढ़ आकर्षण है। हम राम को, उनके नाम को, उनके बल को बड़ी तेजी से भूलते जा रहे हैं। पर गांधीजी का सम्पूर्ण जीवन और साहित्य चिल्ला-चिल्ला कर कहता है कि राम की निश्छल शरणागति ग्रहण करो, तुम्हारी सारी समस्याएं सुलझ जायेंगी। तो आइये आज गांधीशताब्दी के शुभ अवसर पर यह व्रत लें, दृढ़ संकल्प करें कि हम भी गांधीजी के राम को पहले जिह्वा पर उतारेंगे और फिर धीरे-धीरे हृदय-मन्दिर में पूर्ण प्रेम-प्रतिष्ठा के साथ सदा के लिए विराजमान कर लेंगे। इसी संकल्प को साकार करके हम गांधीजी के प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर सकते हैं और इसीमें गांधीशती मनाने की सफलता का रहस्य भी अन्तर्निहित है।

---

३५. बापू—मेरी माँ, मनुबहन गांधी, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, पृ० ३४।
३६. मा० ४. १०. ३।
३७. गीता, अ० ८, श्लोक ५।

गान्धी महाराज

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

गान्धी महाराजेर शिष्य
केउ-वा धनी, केउ-वा निःस्व,
एक जायगाय आछे मोदेर मिल—
गरिब मेरे भराइ ने पेट,
धनीर काछे हइ ने तो हेंट,
आतङ्के मुख हय ना कभु नील।

षण्डा यखन आसे तेड़े
उँचिये घुषि डाण्डा नेड़े
आमरा हेसे बलि जवानटाके,
'ऐ ये तोमार चोख राङानो
खोकाबाबुर घुम-भाङानो,
भय ना पेले भय देखाबे काके।'

सिधे भाषाय बलि कथा,
स्वच्छ ताहार सरलता,
डिप्लोमेसिर नाइको असुविधे।

गारदखानार आइनटाके
खुँजते हय ना कथार पाके,
जेलेर द्वारे याय से निये सिधे।

दले दले हरिणबाड़ि
चलल यारा गृह छाड़ि
घुचल तादेर अपमानेर शाप—
चिरकालेर हातकड़ि ये,
धुलाय खसे पड़ल निजे,
लागल भाले गान्धीराजेर छाप।

उदयन। शान्तिनिकेतन
१३ दिसंबर १९४०

(हिन्दी छायानुवाद)

गान्धी महाराज के शिष्य, कोई धनी है, कोई दरिद्र,
एक जगह हमारा मेल है—गरीब को मारकर पेट नहीं भरते,
धनी के आगे झुकते नहीं, आतंक से मुख कभी विवर्ण (काला) नहीं होता।
सण्डा (मुसण्डा) जब झपट कर घूसा ताने, डंडा घुमाता आता है,
हम उस जवान से हँसकर कहते है, तुम्हारा यह आँखें लाल करना
बच्चे की नींद भंग करनेवाला है, (हम) डरते नहीं, डराओगे किसे।
सीधी भाषा में बात कहते हैं, उसकी सरलता स्पष्ट है, कूटनीति
का उसमें कोई जाल नहीं है। जेलखाने के कानून को वाग्जाल के बीच
नहीं ढूँढना पड़ता, वह सीधे जेल के द्वार पर ले जाता है। जो घर
छोड़ कर दलों में हरिणबाड़ी[1] (जेल) की ओर जा रहे हैं, उनके अपमान
का शाप मिट गया—चिरकाल से पड़ी हथकड़ी स्वयं धूल में
खिसक पड़ी, भाल पर गान्धी महाराज की छाप लग गई।

(रा० तो०)

---

१. हरिणों का घर ; कलकत्ता में जिस स्थान पर जेल है, उसके पास हरिण-बन था। इसीसे कारावास का नाम कदाचित् हरिणबाड़ी प्रचलित हो गया है।

গান্ধি মহারাজের শিষ্য
কেউ বা ধনী কেউ বা নিঃস্ব
এক জায়গায় আছে মোদের মিল
গরীব মেরে ভরিনে পেট
ধনীর কাছে হইনে তো হেঁট
আতঙ্কে মুখ হয় না কভু নীল
ষণ্ডা যখন আসে তেড়ে
উঁচিয়ে ঘুষি ডাণ্ডা নেড়ে
আমরা হেসে বলি জোয়ানটাকে
ঐ যে তোমার চোখ রাঙানো
খোকাবাবুর ঘুম ভাঙানো
ভয় না পেলে ভয় দেখাবে কাকে

রবীন্দ্রনাথ ঠাকুর

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गान्धी महाराज' शीर्षक कविता की गुरुदेव के अक्षरों की प्रतिकृति ।

शान्तिनिकेतन में फिनिक्स स्कूल के छात्र, १९१५ ई०।

शान्तिनिकेतन में गान्धीजी का प्रथम आगमन

दक्षिण आफ्रिका से ऐण्ड्रयूज और पियर्सन को शान्तिनिकेतन लौटे अभी कुछ ही महीने हुए थे कि अचानक इंगलैण्ड से ऐण्ड्रयूज के नाम गांधीजी का भेजा एक समुद्री तार मिला जिसमें कहा गया था कि फिनिक्स मंडली के विद्यार्थी भारत लौट रहे हैं। उसमें यह भी कहा गया था कि अगर किसी उपयुक्त आश्रम में उनकी व्यवस्था हो जाय तो गांधीजी निश्चिन्त होंगे।

गोखले के निर्देशानुसार गांधीजी अपनी पत्नी के साथ सत्याग्रह के समाप्त होने पर इंगलैण्ड गए थे और अपने विद्यार्थियों के भारत लौटने के पहले ही उनके यहाँ पहुँचने की संभावना थी। लेकिन उनके लंदन पहुँचने के दो दिन पहले ही प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। घायल सैनिकों की सेवा-सुश्रूषा के लिये इंगलैण्ड में बसे भारतीयों का एक स्वयंसेवक दल बनाने में वे तुरत प्रवृत्त हो गए। अतएव ऐण्ड्रयूज की सहायता के सिवा उनके लिये अन्य कोई चारा नहीं था। शिक्षा के उद्देश्य तथा तरीकों के बारे में यद्यपि रवीन्द्रनाथ, गांधीजी से सहमत नहीं थे फिर भी तुरत ही ऐण्ड्रयूज के जरिये उन्होंने विद्यार्थियों को आने का निमंत्रण दिया। उस वर्ष की आश्रम की कठिन आर्थिक परिस्थिति भी उन्हें निरुत्साह नहीं कर सकी। उन दिनों रवीन्द्रनाथ जिस मकान में रहते थे वह देहली कहलाता था उसके ठीक बगलवाले नतुन बाड़ी में उन्होंने इन अल्पवयस्क अतिथियों के रहने का प्रबन्ध करा दिया जिसमें कि वे बिना किसी विघ्न-बाधा के अपने ढंग से रह सकें और अपना कार्यक्रम चला सकें और साथ ही वे उनकी देखरेख से अलग भी न-जा पड़ें। भारत में आने के बाद उन लड़कों ने कुछ दिन हरिद्वार में स्वामी श्रद्धानन्द के गुरुकुल आश्रम में बिताए और तब शान्तिनिकेतन आए। विश्वभारती क्वार्टर्ली, फरवरी १९३८ में प्रकाशित सी० एफ० ऐण्ड्रयूज के संस्मरण में इसका वर्णन किया गया है :

'जब महात्माजी सन् १९१४ ई० में दक्षिण आफ्रिका से लंदन गए तब एक समुद्री तार भेजकर उन्होंने मुझ से अनुरोध किया था कि उन लड़कों के लिये जो फिनिक्स में उनके साथ रहते थे कुछ व्यवस्था करूँ। वे लड़के उनके भतीजे मगनलाल गांधी के साथ भारत आ रहे थे। गुरुदेव ने बड़ी प्रसन्नता से शान्तिनिकेतन में उनका स्वागत किया। कई महीनों तक वे लोग हमारे साथ रहे और आश्रम में यहाँ के जीवन में हाथ बटाया। गुरुदेव स्वयं देहली में रहते थे और उसके पास ही के मकान नतुन बाड़ी में उनके रहने का उन्होंने प्रबन्ध करा दिया था। संख्या में वे अट्ठारह थे और उनमें से कुछ तो सचमुच ही अत्यन्त कम उम्र के थे। मगनलाल इस पूरे परिवार के अभिभावक थे। फिनिक्स से आए ये विद्यार्थी अपने आश्चर्य-जनक अध्यवसाय और नित्य अपने पाठ्य-क्रम के सिलसिले में बाहर के मैदान में कठोर परिश्रम के प्रति अपने अदम्य उत्साह से हमारे विद्यार्थियों को प्रभावान्वित कर रहे थे।

इस कार्यके लिये उनके निवास स्थानके सामने ज़मीन का एक टुकड़ा उन्हें दे दिया गया था जिसमें उन्होंने आलू लगाया था और कुएँ से जल लाकर वे उसे सींचते थे। लेकिन दुर्भाग्यवश अंत में दीमकने पूरी फसल नष्ट कर दी। ऊपरी तल्ले के अपने छोटे से कमरे से गुरुदेव उनपर अपनी स्नेह दृष्टि रखते थे। गुरुदेव का वह कमरा इतना छोटा था कि मुश्किल से उसमें मसहरी के साथ उनकी खाट आती थी। अपने बच्चोंकी तरह वे उन्हें प्यार करते थे और उनके विकास में अपना बहुत समय लगाते थे और बदले में वे लड़के उनके प्रति असीम श्रद्धा रखते थे और उन्हें प्यार करते थे।'

तत्त्वबोधिनी पत्रिका (पौष, शक संवत् १८३६) के आश्रम-समाचार-स्तम्भ में शान्ति-निकेतन के विद्यार्थियों ने अपने अतिथियोंके आगमन की सूचना बड़े उत्साह से प्रकाशित की थी :

'बहुत बड़े त्यागी और लोगों की भलाई में लगे रहनेवाले श्रीयुत् मोहनचन्द (दास) करमचन्द गांधी द्वारा स्थापित फिनिक्स मंडली के विद्यालय से कुछ विद्यार्थी भारत में आए हैं। श्रीयुत गांधी अभी इंगलैण्ड में हैं। उनके यहां लौटकर आने तक ये सोलह विद्यार्थी आश्रम में रहेंगे। ये लोग मिठाई नहीं खाते और न चटपटी, कड़वी चीज़ें ही खाते हैं। उनमें से कुछ तो घी, दूध तक नहीं खाते। आश्रम के सभी आयोजनों में वे शरीक होते हैं। श्री मगनलाल गांधी जो श्री एम० के० गांधी के भतीजे हैं और इनलोगों के अध्यापक हैं इनके साथ ही इनके अभिभावक के रूप में रहते हैं। इन लड़कों में श्री एम० के० गांधी के तीन लड़के भी हैं।'

फिनिक्स विद्यालय के इन विद्यार्थियों के आने के बाद ही रवीन्द्रनाथ ने महात्मा गांधी को यह पत्र लिखा था।

'प्रिय श्री गांधी,

भारत में आए अपने फिनिक्स विद्यालय के विद्यार्थियों के रहने योग्य मेरे विद्यालय को आपने जो उपयुक्त स्थान समझा इससे मुझे सचमुच बड़ी खुशी हुई और मेरी यह खुशी और बढ़ गई जब मैंने उन प्रिय लड़कों को यहाँ देखा। हम सभी अनुभव करते हैं कि यहाँ के लड़कों पर उनका प्रभाव बड़े काम का होगा और मैं समझता हूँ कि बदले में वे लड़के भी यहाँ से कुछ पा सकेंगे और उनका यहां रहना सार्थक होगा। मैं यह पत्र आपको धन्यवाद देने के लिये लिख रहा हूँ कि आपने अपने विद्यार्थियों को हमलोगों का विद्यार्थी होने का अवसर दिया और इस प्रकार हम दोनों के जीवन की साधना में एक जीवन्त योग सूत्र स्थापित होने दिया।

आपका अत्यन्त अभिन्न,
रवीन्द्रनाथ टैगोर।

संभवतः यह पत्र प्रारंभिक योगसूत्र था जिसने बाद के बहुमूल्य गांधी-टैगोर पत्रव्यवहार के मार्ग को प्रशस्त कर दिया।

अभी मुश्किल से कुछ महीने बीते होंगे कि एक तार पाकर आश्रमवासियों को यह पता चला कि गांधीजी भारत आ गए हैं और १७ फरवरी सन् १९१५ ई० को शान्तिनिकेतन में उनके आने की संभावना है। कुछ समय से गांधीजी को अपने विद्यार्थी-शिष्यों का कुछ भी समाचार नहीं मिल पाया था। जब वे बम्बई आए तब पहले पहल उन्हें पता चला कि वे लोग रवीन्द्रनाथ के संरक्षण में हैं :

'बम्बई में उतरने पर ही मुझे पहले पहल पता चला कि फिनिक्स दल शान्तिनिकेतन में है अतएव गोखले से मिलने के बाद जितनी जल्दी हो सके उससे मिलने को मैं उत्सुक था।'

शान्तिनिकेतन के लिये वह स्मरणीय दिन था। उत्तरी भारत का भ्रमण करने के बाद सिलाइदह होकर रवीन्द्रनाथ अभी-अभी कलकत्ता पहुँचे थे। 'बलाका' में जिन नवीन भावों और छन्दों का उत्स उन्होंने प्रत्यक्ष किया था उससे उनका काव्य-जीवन नये सिरे से प्रस्फुटित हो रहा था। ब्रह्मविद्यालय और आश्रम में भी नये जीवन का संचार हो रहा था। कार्य करने की लगन और मनुष्य की सेवा की भावना से आश्रम ओतप्रोत हो रहा था। गुरुदेव की अनुपस्थिति से आश्रम-बालक ज़रा भी निरुत्साहित नहीं हुए और अपने अतिथि के स्वागत की तैयारियों में जुट पड़े। स्वागत-समारोह की पूर्वरात्रि को साढ़े बारह बजे तक काम में वे लगे रहे उसके पहले साढ़े दस बजे रात तक इतने उत्साह और आनंद से वे काम में लगे कि वह अविस्मरणीय है।

यह सुंदर स्वागत-समारोह पूर्ण रूप से भारतीयता से अनुप्राणित था। रवीन्द्रनाथ ने कलकत्ते से जो पत्र ऐण्ड्रयूज़ को लिखा था और उसमें जैसी आशा का पोषण किया था उसे आश्रम के बालकों ने पूर्ण रूप से निभाया। संभव है कि १८ फरवरी, १९१५ को लिखे इस पत्र में रवीन्द्र ने पहली बार गांधीजी को 'महात्मा' कह कर संबोधित किया था :

'मैं समझता हूँ कि महात्मा और श्रीमती गांधी बोलपुर पहुँच गए हैं और शान्तिनिकेतन ने उनकी उपयुक्त अभ्यर्थना की है उनसे मिलने पर मैं स्वयं अपना व्यक्तिगत स्नेह व्यक्त करूँगा।'

गांधीजी भी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं :

'अध्यापकों और विद्यार्थियों ने अपने स्नेह से मुझे अभिभूत कर दिया। अभ्यर्थना-समारोह सादगी, कला और स्नेह का एक सुंदर संमिश्रण था।'

तत्त्वबोधिनी पत्रिका के तत्कालीन एक अंक में इसका एक सुंदर वर्णन प्रकाशित हुआ था :

'गांधीजी और उनकी पत्नी १७ फ़रवरी के तीसरे पहर आश्रम में पधारे। उनके

स्वागत के लिये बनी नई सड़क पर चँदोवा तना था। वहाँ चंदन और फूलों से उनका स्वागत किया गया। आश्रम के संगीत अध्यापक श्री भीमराव शास्त्री ने एक स्वागत-गान गाया। संगीत के साथ सितार और इसराज-वादन हुआ। जब वे पहले तोरण को पार कर दूसरे तोरण के पास आए तो उनके पैरों को धोने के लिये जल लाया गया। श्रद्धेय दार्शनिक श्रीयुत् द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर की पुत्रवधू श्री हेमलता देवी ने, जो आश्रम की मातृ-तुल्य हैं यहाँ की *अन्य महिलाओं के साथ श्रीयुत् गांधी का हिन्दू विधान के अनुसार स्वागत किया।* इस द्वार के बाद वे भीतरी तोरण में आए। इसके उत्तर में पद्माकार एक मिट्टी का आसन बनाया गया था। स्वागत के लिये वैदिककालीन वेदी के जैसा यह आसन बना हुआ था। चार केले के स्तंभ और आम्रपल्लव सहित जल से पूर्ण चार कलश चारों कोनों पर सजाए गए थे। अभ्यर्थना के चार थालों में प्रत्येक में पाँच पाँच दीपक सजाकर गांधीजी और उनकी पत्नी के सामने रखे गए थे। महिलाओं की ओर से एक बालिका ने उन्हें फूलों की माला पहनाई, श्रीमती गांधी के ललाट पर सिन्दूर की बिंदी लगाई और श्रद्धा ज्ञापन के लिये उनके चरणों की धूलि ली। पंडित क्षितिमोहन सेन शास्त्री और दो मराठी अध्यापकों ने वैदिक मंत्रों के पाठ और उनके बंगला और गुजराती अनुवाद के साथ आयोजन का समापन किया। जहाँ भी अतिथि किसी तोरण में प्रवेश करते क्षितिमोहन बाबू संस्कृत श्लोकों का पाठ करते और उनका बंगला अनुवाद करते तथा मराठी अध्यापकगण गुजराती में अनुवाद कर देते। स्वागत-समरोह के अंत में आश्रम-बालकों ने श्रीयुत् दिनेन्द्रनाथ ठाकुर के निर्देशन में दो गान गाए।'

इस प्रकार जनाकुल से दूर हरे कुंजों की छाया में आयोजित इस स्वागत समारोह के द्वारा शान्तिनिकेतन ने अपने एक अत्यन्त बड़े सुहृद को अपनाया और पूरे बंगाल की तरफ़ से भारतवर्ष के भावी नेता का उनके सार्वजनिक जीवन में प्रवेश के उषःकाल में ही विशुद्ध भारतीय विधि से स्वागत किया। इस स्वागत से शान्तिनिकेतन के लिये जिस प्रेम और ममत्व की भावना उनमें उत्पन्न हुई वह बराबर उनके मनमें ताज़ी बनी रही। सन् १९४५ ई० के दिसम्बर में अंतिम बार जब वे शान्तिनिकेतन आए उससे इस बात का पूरा परिचय मिल जाता है।

उस अवसर पर गांधीजी ने जो कुछ कहा था वह तत्त्वबोधिनी पत्रिका के शक संवत् १८३६ के चैत्र के अंक में प्रकाशित हुआ और उसे उद्धृत किया जा रहा है :

'आज जिस आनंद का मैं अनुभव कर रहा हूँ वैसा इसके पहले कभी नहीं किया था। यद्यपि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ यहाँ नहीं हैं फिर भी अपने हृदय में हम उनकी उपस्थिति का अनुभव कर रहे हैं। मुझे इस बात से और भी खुशी है कि भारतीय ढंग से आपने स्वागत

का आयोजन किया है। बम्बई में बड़ी धूमधाम से हमारी आवभगत की गई लेकिन उसमें ऐसी कोई चीज नहीं थी जिससे हमें प्रसन्नता होती। क्यों कि वहाँ पर पाश्चात्य ढंग की बड़ी सावधानी से नकल को गई थी। पूर्व के विधि-विधान को अपना कर ही हम अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर हो सकेंगे, पश्चिमी ढंग को अपनाकर नहीं, क्यों कि हम पूर्व के हैं। भारतवर्ष के सुंदर रीति-रस्मों और रिवाजों को अपनाकर ही हम अपना विकास कर पाएँगे और उसकी अन्तरात्मा के वैशिष्ट्य के अनुरूप भिन्न भिन्न आदर्शोंवाले राष्ट्रों के साथ मैत्री-संबंध स्थापित कर सकेंगे। वास्तव में पूर्व की अपनी संस्कृति के माध्यम से ही भारतवर्ष प्राच्य और पाश्चात्य जगत् के साथ मित्रता स्थापित करने में सक्षम होगा। बंगाल के इस आश्रम के साथ आज मेरा घनिष्ठ संबंध हो गया है। अब मैं आपके लिये अजनबी नहीं रह गया। मैं दूर स्थित आफ्रिका को भी पसंद करता था क्यों कि वहाँ के, भारतीयों ने अपना राष्ट्रीय रहनसहन और व्यवहार को छोड़ नहीं दिया है।'

आफ्रीका के सत्याग्रह के बाद से गांधीजो रेल के तीसरे दर्जे में ही सफर करने लगे थे। बोलपुर स्टेशन पर एक अद्भुत घटना घटी जिसका वर्णन मार्च, सन् १९१५ ई० के 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुआ है :

'हाल ही में श्रीयुत् गांधी और श्रीमती गांधी बोलपुर गए थे। स्टेशन पर जो लोग उनकी अगवानी के लिये गए थे वे उन्हें प्रथम और दूसरे दर्जे में ढूँढ़ रहे थे। उन्हें न पाकर उनलोगों का दल निराश होकर लौटने को था तभी उनलोगोंने देखा कि अतिथि खाली पैर तीसरे दर्जे के डब्बे से उतर रहे हैं। संजीवनी में भी कहा गया है : 'स्टेशन से आश्रम तक वे खाली पैर पैदल गए।' अपनी आत्मकथा में विनोद करते हुए उन्होंने जो लिखा है उससे उस समय की याद और भी ताजी और स्पष्ट हो जाती है :

'अपने काठियावाड़ी कुर्ते, पगड़ी और धोती में मैं आज की अपेक्षा कुछ अधिक सभ्य दीखता था।'

शान्तिनिकेतन में शान्ति से कुछ समय बिताने की आशा लेकर गांधीजी यहाँ आए थे लेकिन दुर्भाग्य कि १८ फरवरी सन् १९१५ के तड़के हो गोखले की मृत्यु का उन्हें तार मिला। गांधीजी जब पूना से रवाना हुए थे तब गोखले सख्त बीमार थे। फिर भी इस आकस्मिकता ने उन्हें विमूढ़ बना दिया। दिवंगत नेता की याद में विद्यालय बंद हो गया। शोकसभा का सभापतित्व करते हुए अन्य बातों के अलावा गांधीजी ने कहा था 'मैं असली जननायक की खोज में निकला था और समूचे भारत में केवल एक को पाया, और वह व्यक्ति गोखले थे।' उस दिन तीसरे पहर कस्तूरबा और मगनलाल के साथ गांधीजी पूनाके लिये रवाना हो गए।

बर्दवान तक ऐण्ड्रयूज उनके साथ गए। वहाँ से कल्यान तक की अपनी यात्रा में तीसरे दर्जे के यात्रियों की दुर्दशा का उन्होंने प्रत्यक्ष दर्शन किया। अपनी आत्मकथा के 'तीसरे दर्जेके यात्रियों की दुर्दशा' वाले अध्याय में उन्होंने विस्तार से इसका वर्णन किया है।

तीन दिनों बाद (२२ फरवरी) शान्तिनिकेतन लौटने पर रवीन्द्रनाथ सिर्फ अपने बाल-अतिथियों को ही पा सके। कई दिनों बाद गांधीजी पूना से लौटे।

और इसके बाद ही उनका शान्तिनिकेतन में वास्तविक अवस्थान शुरू हुआ। गांधीजी के लिये यह विश्राम नहीं था। समय का पूर्ण रूप से उपयोग करने के लिये वे पिल पड़े। उनकी 'आत्मकथा' में इसका एक रोचक वर्णन मिलता है :

'जैसी कि मेरी आदत है बहुत जल्दी मैं अध्यापकों और विद्यार्थियों से हिलमिल गया और स्वावलंबन की चर्चा उनसे छेड़ दी। मैंने अध्यापकों से कहा कि अगर वे तथा विद्यार्थीगण रसोइये न रखकर स्वयं भोजन बनाने लग जायं तो इस से अध्यापकगण लड़कों को शारीरिक और नैतिक स्वास्थ्य की दृष्टि से रसोईघर को नियंत्रण में रख सकते हैं और विद्यार्थीगण उससे स्वावलंबन की शिक्षा पा सकते हैं। उनमें से एक या दो तो सिर डुला कर ना करना चाहते थे लेकिन कुछ ने इस प्रस्ताव का ज़ोरों से समर्थन किया। और कुछ नहीं तो इसके नयेपन के लिये लड़कों ने इसका स्वागत किया। उनमें नयापन के लिये एक सहज रुझान रहती है। अतएव हमलोगों ने इस कार्यक्रम को चालू कर दिया। जब मैंने कवि से इसके संबंध में राय देने को कहा तो उन्होंने कहा कि उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी अगर अध्यापक सहमत हों। लड़कों से उन्होंने कहा कि 'इस प्रयोग के भीतर स्वराज की कुंजी है।'

इस कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये पियर्सन ने अपना शरीर गलाना शुरू कर दिया। बड़ी लगन से वे इस काम में जुट पड़े। तरकारी काटने का एक दल बना, दूसरा अनाज साफ करने के लिये, इसी तरह अन्य कामों के लिये भी। नगेनबाबू (नगेन्द्रनाथ आइच) तथा कुछ अन्य लोगों ने रसोईघर और उसके आसपास की सफाई का भार लिया। कुदाल हाथ में लेकर उन्हें काम करते हुए देख मुझे बड़ी प्रसन्नता होती।

लेकिन एक सौ पच्चीस विद्यार्थियों और उनके अध्यापकों से जो पानी में बतखों के समान थे, शारीरिक श्रमवाले इस कामको चलाते जाने की आशा रखना अत्यधिक आशावादी होने जैसा था। नित्य विचार-विमर्श होता। कुछ ने तो बहुत जल्दी ही थकावट महसूस करना आरंभ कर दिया। लेकिन पियर्सन हार मानने वालों में नहीं थे। चेहरे पर मुस्कुराहट लिए हुए कुछ न कुछ करते हुए वे रसोईघर के आसपास बराबर दीख पड़ते। रसोई के बड़े-बड़े बर्तनों के धोने का काम उन्होंने अपने जिम्मे ले रखा था। जहां बर्तन धोया जाता वहां

लड़कों का एक दल सितार बजाता जिससे कि उसकी नीरसता को भुलाया जा सके। सब ने समान भाव से उत्साह के साथ इस कार्यक्रम को प्रारंभ किया और शान्तिनिकेतन मधुमक्खी के छत्ते की तरह कार्यरत हो गया।'

इस प्रयोग का जो विवरण ऊपर दिया गया है वह ऐसे व्यक्ति द्वारा है जो उसके मूल में था और उस प्रयोग के प्रति शान्तिनिकेतन वालों को क्या प्रतिक्रिया थी इसका सही सही चित्रण इसमें मिलता है। 'नित्य विचार-विमर्श होता था' अतएव यह मान लिया जा सकता है कि आश्रम के जीवन में ऐसी उथल-पुथल न हठात् आई और न गुमसुम तरीके से आई। ऐसी संस्था में जिसमें प्राण के चिह्न वर्तमान हों ऐसा होना संभव भी नहीं। इस संबंध में रवीन्द्रनाथ की उदार मनोवृत्ति का परिचय पाकर विस्मित हो जाना पड़ता है। वे जानते थे कि यह उनकी पद्धति नहीं है फिर भी अपना व्यक्तिगत प्रभाव उन्होंने किसी भी ओर नहीं डाला निरय के इस विचार-विमर्श से अपने को अलग कर वे सुरूल (अब श्रीनिकेतन) चले गए और फाल्गुनी और उसके गान लिखने में हाथ लगाया और शान्तिनिकेतन के कार्यक्रम किस दिशा में अग्रसर होते हैं, धैर्य के साथ देखने लगे। हो सकता है कि वे उस समय की प्रतीक्षा में हों जब आश्रम के अध्यापक और विद्यार्थी अपनी ही तर्कणा से सही मार्ग ढूँढ़ लें और जबकि दूसरे व्यक्ति की अनुप्रेरणा को प्रत्यक्ष कर दे। उसी अवधि में अपने पुत्र रथीन्द्रनाथ को जो पत्र उन्होंने लिखा था उसका कुछ अश उद्धृत किया जा रहा है जिससे उनकी विचक्षणता का पता चलता है।

'रसोई बनाने के मामले को लेकर यहां एक बड़ी अशान्ति फैली हुई है। गांधी जी के परामर्श से यहां के विद्यार्थी अपना भोजन स्वयं बना रहे हैं। बहुत सी गलत सही बातें इसे लेकर फैली हुई हैं और यहां पर थोड़ी उत्तेजना है।... .. . यद्यपि यह काम कठिन है फिर भी शुरुआत हो गई है। सचमुच में इससे हमारी आर्थिक और अन्य कुछ समस्याओं का समाधान हो जायगा। अन्य सब कुछ छोड़ कर इससे हमारे विद्यार्थियों को उत्तम प्रशिक्षण का अवसर मिलेगा और वे इस आश्रम के वास्तविक तात्पर्य और उसकी भावना को उपलब्ध कर सकेंगे। विद्यार्थी तो उत्साह से भरे हुए हैं लेकिन कुछ अध्यापक अनिच्छुक हैं...... अगर हमलोग कुछ समय तक मौन धारण किए रहें तो सब कुछ अपने आप ठीक हो जायगा। धैर्य के साथ अगर हम प्रतीक्षा करें तब कोई कठिनाई नहीं रह जायगी।'

और अंत में इस धैर्य ने एक सहज और सुसंगत समाधान उपस्थित कर दिया। कुछ दिनों के बाद विद्यार्थी और अध्यापक इस प्रयोग को बंद कर देने के लिये सहमत हो गए।

शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रयोग की अच्छाइयां बुराइयां दोनों ही हैं। इसके संबंध में गांधीजी ने जो कहा है वह ध्यान देने योग्य है :

'जो हो, यह प्रयोग कुछ दिनों बाद बंद हो गया। मेरी दृष्टि में इस प्रसिद्ध संस्था का इस प्रयोग के थोड़े समय तक भी अपनाने से कुछ नुकसान नहीं हुआ और इससे जो अनुभव प्राप्त हुए वे अध्यापकों के काम के साबित होंगे।'

आश्रम की भावना को विकसित करने के इस प्रथम प्रयास की स्मृति शान्तिनिकेतन के लिये अत्यन्त प्रिय है। गांधीजी के कुछ दिनोंके साहचर्य का यह परिणाम था। इस प्रयोग की स्मृति में प्रत्येक वर्ष १० मार्च को शान्तिनिकेतन में 'गांधी पुण्याह' का पालन किया जाता है।

एक आवश्यक कार्य से ११ मार्च को गांधीजी को रंगून चला जाना पड़ा। बीस दिनों बाद वे लौटकर आए और ३ अप्रेल को दलबल सहित कुंभ मेले के अवसर पर हरिद्वार चले गए। वहां स्वयं सेवकों के दल में शामिल होने के लिये उनके विद्यार्थियों को आमंत्रित किया गया था। 'शान्तिनिकेतन में रह कर हमलोगों ने यह समझ लिया था कि भारतवर्ष में हमारा मुख्यकाम झाड़ूबरदार का होगा।' महात्मा मुंशीराम से, जो स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से विख्यात थे, उनके गुरुकुल आश्रम से मिलने के लिये तथा इनके आदर्शों से परिचित होने के लिये गांधीजी स्वयं बहुत उत्सुक थे।

शान्तिनिकेतन में गांधीजी के प्रथम आगमन की स्मृति प्रेरणादायक है। यह स्मृति बाद में उनके कई बार यहां आगमन को जीवन्त बनाती रही है। वास्तव में उसके बाद से ही उन्होंने शान्तिनिकेतन को अपना दूसरा घर कहना शुरू किया। शान्तिनिकेतन को अपना घर मान कर ही वे यहां आते रहे। बड़ोदादा[1], गुरुदेव, पियर्सन और ऐण्ड्रयूज की स्मृतियों से जड़ित शान्तिनिकेतन उनके लिये मात्र अतिथिशाला नहीं रह गया था।

(विश्वभारती क्वार्टरली के गांधी पीस मेमोरियल अंक से)

अनु० रामपूजन तिवारी

---

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर।

महात्मा गान्धी की शान्तिनिकेतन यात्राएं

महात्मा जी सन् १९१५ में प्रथम बार शान्तिनिकेतन आए। आकर पूना चले गए, फिर लौटे फिर रंगून चले गए, फिर आए और कुछ दिन रहकर हरद्वार चले गए। इस बार सब मिलाकर वे १५ दिन शान्तिनिकेतन में ठहरे। सन् १९२० में ५ दिन ठहरे, सन् १९२५ में तीन दिन ठहरे। सन् १९४० में तीन दिन ठहरे, यही उनकी गुरुदेव से अंतिम भेंट थी। गुरुदेव के तिरोधान के बाद सन् १९४५ में महात्मा जी अंतिम बार आए। सब मिलाकर लगभग २९ दिन महात्मा जी शान्तिनिकेतन में रहे। उनकी शान्तिनिकेतन यात्राओं का पूरा विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

प्रथम यात्रा

सन् १९१५ ई०

फरवरी १७, बुधवार

बर्दवान में ऐण्ड्रयूज और सन्तोक बाबू आये। ख्रिस्तीके घर गया। बोलपुर रातको पहुंचा। ठेठ पुराने ढंग के अतिथि-सत्कार का आनंद मिला।

फरवरी १८, बृहस्पतिबार

ऐण्ड्रयूज के साथ बातचीत।

फरवरी १९, शुक्रवार

ऐण्ड्रयूज के साथ और बातचीत।

फ़रवरी २०, शनिवार

राजनैतिक गुरुके स्वर्गवास का तार मिला। बोलपुर से रवाना।········· बर्दवान तक ऐण्ड्रयूज साथ आये। खूब बातचीत हुई। शिक्षकों के सुधारों के संबंध में वार्तालाप।

मार्च ६, शनिवार

शान्तिनिकेतन पहुंचा। गुरुदेव से मुलाकात।

मार्च ७, रविवार

ऐण्ड्रयूज के साथ गुरुदेव के घर गया।········· गुरुदेव ने व्याख्यान दिया।

मार्च ८, सोमवार

गुरुदेव कलकत्ते गए। ऐण्ड्रयूज के साथ उनके व्यवहार के सम्बन्ध में बातचीत हुई। रात को शिक्षकों से मिला। शिक्षण के विषय में चर्चा की।

मार्च ९, मंगलवार

स्वास्थ्य-सफाई-समिति के साथ सब कुछ देखा। गन्दगी की सीमा न थी।

मार्च १०, बुधवार

शिक्षकों से वार्ता। लड़कों से मुलाकात। स्वयं रसोई बनाने का प्रयोग आरम्भ। सबेरे फलाहार। शाम को मन्दिर में भाषण।

मार्च ११, बृहस्पतिवार

ऐण्ड्रयूज और सरोद बाबू के बीच गरमागरमी। ऐण्ड्रयूज ने क्षमा माँगी। रातको कलकत्ता जाने के लिए निकला। हरिलाल और रामदास साथ आये। गुरुदेव से स्टेशन पर मिला। लड़कों के लिए ऐण्ड्रयूज को २०० रुपये दिये। दत्तात्रेय से रुपया लिया।

(रंगून के लिए चले गए)

मार्च ३१, बुधवार

विद्यार्थियों से दो शब्द।...... बोलपुर रवाना। मारवाड़ियों ने बोलपुर जाने के लिए ३०० रुपये दिये। रातको बोलपुर पहुंचा। प्राणलाल मेरे साथ आया।

अप्रैल १, बृहस्पतिवार, वैशाख बदी १

एक बीमार लड़के को देखने गया। ऐण्ड्रयूज की कष्टमय स्थिति समझी। गुरुदेव के साथ मुलाकात।

अप्रैल २, शुक्रवार

एण्ड्रयूज के सम्बन्ध में गुरुदेव के साथ बातचीत। बाद में शिक्षकों के साथ। अन्त में शिक्षकों के सम्मुख ऐण्ड्रयूज से बातचीत। कुंजरू की ओर से तार कि हम सबको ५ तारीख तक हरद्वार पहुँच जाना चाहिए। नेपाल बाबू की सार-संभाल।

अप्रैल ३, शनिवार

गुरुदेव की अध्यक्षता में लड़कों के साथ अन्तिम बार बातचीत। मगनलाल तथा रामदास को बोलपुर में रसोई के काम में मदद देने के लिए रखा। बाकी को लेकर हरद्वार के लिए रवाना। शकर पंडित साथ आये।

महात्मा गान्धीजी की डायरी से—
(सम्पूर्ण गान्धी वाङ्मय—खण्ड १३,
पृ० १६३ और आगे)

महात्मा जी की पहली शान्तिनिकेतन यात्रा का वर्णन

१

श्री गान्धी तथा श्रीमती गान्धी का बोलपुर आगमन ।[1]

प्रफुल्लचन्द्र चौधुरी

जब हम १५ तारीख को रात्रि भोजन कर रहे थे मैंने अचानक एक विद्यार्थी से सुना कि श्री एण्ड्रयूज को श्री गान्धी जी का एक तार मिला है कि वे १७ तारीख को शाम की गाड़ी से बोलपुर पहुँच रहे हैं। यह समाचार सुनकर हम बड़े प्रसन्न हुए तथा पुलकित भी हुए क्योंकि उन्हें देखने के लिए उत्सुक थे क्योंकि वे भारत के महानतम व्यक्तियों में से एक हैं। एक अत्यंत समृद्ध व्यक्ति के पुत्र होते हुए तथा दक्षिण आफ्रीका के बहुत बड़े बैरिस्टर होते हुए भी उन्होंने अपना जीवन अपने देश के लिए अर्पित कर दिया है।

अतएव मैं यह समाचार सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। यह सुनकर मैं और भी प्रसन्न हुआ कि श्रीमती गान्धी उनके साथ आ रही थीं, मैं उनकी श्रद्धा करता था क्योंकि वे अपनी मातृभूमि के लिए जेल गई थीं।

तब सभी लड़के आश्रम की सफ़ाई में जुट गए। कुछ लड़के श्री पियर्सन के कमरे के समीप शौचालय बनाने लगे और हमलोग उन ईंटों और कूड़े को वहाँ से उठाकर छोटे टीले के पास के गड्ढे में फेंकने लगे। सब काम हमने बहुत जल्दी कर डाला, कारण कि उस समय हमारे मन में एक असाधारण शक्ति आ गई थी और हर काम हमने प्रसन्नतापूर्वक मनोयोग से किया। हममें से कुछ आश्रम की मुख्य सड़क की मरम्मत करने लगे और उन्होंने लगभग पाँच दिन के काम को एक दिन में कर डाला और अपना काम केवल दो दिन में पूरा कर लिया। हममें से कुछ छातिम वृक्षों के नीचे स्थित वेदी तथा जमीन साफ़ करने लगे तथा आश्रम की सभी गंदी जगहों को साफ़ करने लगे। जब हमलोग कूड़ा हटा रहे थे और श्रीमती गान्धी के लिए स्नानघर बना रहे थे तब हममें से कुछ लोगों को चोटें आ गईं। १५, १६ तथा १७ तारीख को आश्रम की सफाई करने श्री गांधी और श्रीमती गांधी का स्वागत करने के लिए तोरण और मंच बनाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया।

---

१. शान्तिनिकेतन से 'आश्रम' नामक हस्तलिखित पत्रिका निकलती थी। श्री प्रफुल्लचन्द्र चौधुरी नवीं कक्षा के विद्यार्थी थ जब गान्धी जी आश्रम में पधारे थे। १७ फ़रवरी से २० फर्वरी १९१५ ई० में गान्धी जी शान्तिनिकेतन में ठहरे। श्री चौधुरी ने १५ मार्च को यह लेख लिखा। आश्रम पत्रिका के जून-जुलाई अंक में लेख लिखा है।

१७ तारीख को जब स्टेशन जाने का समय आया तो घंटी बजाई गई और हम सब लोग पंक्ति बनाने के लिए दौड़े और टोलियों में विभक्त होकर तेजी से हमलोग स्टेशन की ओर चले, क्योंकि समय बहुत कम रह गया था। जब हमलोगों ने स्टेशन की सीमा में प्रवेश किया तो गाड़ी आने की घंटी बजी और हम जितनी तेज़ी से दौड़ सकते थे दौड़े और दोनों—हम और रेलगाड़ी स्टेशन पर एक ही समय पहुँचे।

कुछ मिनट तक हमलोगों ने श्री तथा श्रीमती गान्धी की स्टेशन के मुख्य फाटक पर प्रतीक्षा की किन्तु कुछ समय बाद हमें मालूम हुआ कि वे दूसरे रास्ते से स्टेशन के बाहर निकल आए हैं, अतः हम उस जगह पहुंचे जहाँ वे खड़े हुए थे और मैं स्तम्भित रह गया क्योंकि मैंने देखा कि वे बहुत ही साधारण पोशाक पहने हुए हैं और श्रीगान्धी के पैरों में जूते नहीं हैं। उन्होंने आश्रम चलने के लिए उस गाड़ी में चढ़ना स्वीकार नहीं किया जो उनके लिए श्री द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर ने भेजी थी। वे हमारे साथ पैदल चलने लगे। हममें से एक उनके आगमन का समाचार देने के लिए आश्रम की ओर दौड़ा।

पहले वे श्री द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर[२] के पास गए और उनसे मिलने के बाद पहले तोरण पर पहुँचे। वहां क्षितिमोहन बाबू,[३] श्री राजंगम और श्री दत्तात्रेय[४] तथा कुछ अन्य लड़कों ने एक मंत्र का पाठ किया और उन्हें माला पहनाई। फिर वे दूसरे तोरण-द्वार पर पहुँचे। मैं यह लिखना भूल गया कि उनका स्वागत करने के लिए तीन द्वार बनाए गए थे। दूसरे द्वार पर उन्होंने पैर धोए, और यह हिन्दुओं की एक रीति है। दूसरे द्वार पर भी उन्हें माला पहनाई गई। फिर वे तीसरे दरवाजे पर पहुँचे और यह सबसे सुंदर और सबसे बड़ा था।

जब उन्होंने अपने आसन ग्रहण कर लिए तो क्षितिमोहन बाबू, श्री राजंगम और श्री दत्तात्रेय ने कुछ मंत्रों का पाठ किया। मंत्रपाठ के पश्चात् श्री दिनेन्द्रनाथ ठाकुर[५] ने अपनी संगीत मण्डली के साथ एक गीत गाया। इसके पश्चात् श्री असितकुमार हल्दार[६] ने श्री और श्रीमती गान्धी को पूरे आश्रम के प्रतिनिधि रूप में एक बहुत सुंदर चित्र भेंट किया। मैं जो लिख रहा हूँ कि चित्र बहुत सुंदर था, वास्तव में यह मेरी कल्पना है क्योंकि मैंने चित्र को कभी नहीं देखा। इसके पश्चात् श्री गान्धी ने बहुत ही सुन्दर भाषण दिया।

---

२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बड़े भाई।
३. आचार्य क्षितिमोहन सेन।
४. श्री बालकृष्ण दत्तात्रेय कालेलकर (श्री काकासाहब कालेलकर)।
५. गुरुदेव के भतीजे, रवीन्द्र संगीत के गायक आचार्य।
६. प्रसिद्ध कलाकार, अबनीन्द्रनाथ ठाकुर के शिष्य।

उनके स्वागत के बाद हमलोग नैश भोजन के लिए गए। उस दिन श्री गांधी के एक मित्र श्री लल्लूभाई ने दावत दी थी। श्री गान्धी, श्रीमती गान्धी, श्री गांगुली, श्री सी० एफ० एण्ड्र्यूज़७ श्री डबलू० डबलू० पियर्सन८ भोज में सम्मिलित हुए। उसके अनन्तर श्री गांधी ने अध्यापकों से हमें एक दिन की छुट्टी देने के लिए कहा और दूसरे दिन हमारी छुट्टी हो गई।

२० तारीख को जब हमें पता लगा कि श्री गोपाल कृष्ण गोखले की मृत्यु हो गई तो एक सभा का आयोजन किया गया जिसके समापति श्रीगांधी थे। श्री गोखले के विषय में उन्होंने बहुत बातें बताई और उसी दिन श्रीमती गांधी के साथ वे किसी आवश्यक काम से पूना चले गए। पूना से वे रंगून के लिए रवाना हो गए हैं। वे दीर्घायु हों और शान्ति पूर्वक रह सकें।

१५. ३. १९१५ ई० —(अंग्रेजी से)

मन्दिर में गान्धी जी का भाषण

आज संध्या को मेरी एक आकांक्षा है कि मेरा हृदय आपके हृदय को छू सके और हम लोगों के बीच सच्चा सौहार्द स्थापित हो। आप सब को तुलसीदास की रामायण के विषय में ज्ञात होगा। सबसे आकर्षक प्रसंग है—सत्संग—प्रसंग। हम उनका संग करें जिन्होंने कष्टसहन करते हुए प्राणोत्सर्ग किए हैं, उनका संग न करें जो सत्य, सद् और सुंदर के प्रति झूठे हैं। एक जिन्हें हम प्यार करते हैं श्री गोखले हैं, वे ऐसे थे। वे रहे नहीं, किन्तु उनके कार्य का अंत नहीं हुआ है, क्योंकि उनकी आत्मा जीती है। उनके जीवन की बारीकियों की चर्चा में नहीं करना चाहता, किन्तु केवल एक पक्ष का उल्लेख करना चाहता हूँ—वह है धार्मिक पहलू, जो उनके जीवन का मूल स्रोत था। उनके सब कार्यों, उनकी राजनीति के भी पीछे वह था। यही कारण है कि उन्होंने सर्वेन्ट्स आफ़ इण्डियन् सोसाइटी (भारत सेवक समाज) की स्थापना की, जिसका आदर्श था राष्ट्र के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में आध्यात्मिकता लाना।

मैं आपके सामने एक उदाहरण दूँगा जो मेरी स्मृति में सदा ताज़ा रहेगा। एक बार हिन्दू संन्यासी का वेश धारण किए हुए एक सज्जन श्री गोखले के पास आए जो हिन्दू और

---

७. दीनबंधु एण्ड्र्यूज़ (१८७२-१९४० ई०)

८. गुरुदेव के सहयोगी, शांतिनिकेतन के कर्त्ता-धर्त्ता

मुसलमानों के बीच के भेद को समझना चाहते थे; श्री गोखले ने उनकी ओर देखते हुए कहा, "यदि यह हिन्दुत्व है तो उससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है"। और वे उठ गए।

उनके जीवन के सभी कार्यों में निर्भयता थी। और जैसे वे निर्भय थे वैसे ही हर काम को विधिपूर्वक करनेवाले। शास्त्रों का उनका अत्यंत प्रिय श्लोक वह था जिसका भाव है, 'सच्ची बुद्धिमानी किसी कार्य को आरंभ करने में नहीं है किन्तु आरंभ किए हुए कार्य को पूरा करने में है।' एक बार उन्हें विशाल श्रोतासमूह के सामने भाषण देना था, और उस सभा के लिए छोटा सा भाषण तैयार करने में तीन दिन लग गए। और उन्होंने मुझसे वह भाषण लिखने के लिए कहा ताकि वे उसके विषय में सोच सकें। मैंने भाषण लिखा। उन्होंने उसे देखा, वे मुस्कराए, मेरे साथ उसके विषय में चर्चा की और कहा, "इसे फिर लिखिए, कुछ और अच्छी चीज मुझे दीजिए।" तीन दिन उन्होंने उस पर विचार किया, और जब व्याख्यान दिया तो उसने सम्पूर्ण श्रोताओं को मुग्ध कर दिया। वे अपने भाषण अपने सामने टिप्पणियां रख कर नहीं देते थे क्योंकि वे पूरी तैयारी करके भाषण देते थे, ऐसा प्रतीत होता होता था जैसे अपने रक्त से वे भाषण लिखते थे। जिस प्रकार सम्यक् रीति से काम करने का उनका स्वभाव था तथा वे निर्भीक थे उसी प्रकार वे विनम्र थे। उन लोगों के साथ अपने व्यवहार में जो उनके संपर्क में आए वे शिखा से नख तक मानव थे। कभी कभी वे अधीर हो जाते थे किन्तु वे अपनी स्वाभाविक मुस्कान के साथ आगे बढ़ यह कहकर क्षमा मांग लेते थे, चाहे वह नौकर हो या बड़ा आदमी, "मैं जानता हूँ, तुम मुझे क्षमा कर दोगे! क्या नहीं करोगे?"

अपने जीवन के बिल्कुल अन्तिम दिनों में उन्हें बड़ा संघर्ष करना पड़ा, अपनी अंतरात्मा के साथ संघर्ष। उन्हें यह निर्णय करना था कि अपने स्वास्थ्य की चिन्ता न कर संघर्ष में भाग लेते रहना चाहिए जिसको वे प्रभावित कर सकते थे। उनके जीवन का प्रत्येक कार्य अन्तरात्मा से अनुशासित होता था। उनमें दिखावट नहीं थी, उनकी निष्ठा सत्य थी। अतएव वे अभी भी जीवित हैं, और हममें इतनी शक्ति हो कि हम उनकी अंतिम इच्छा का पालन कर सकें। भारत सेवक समाज के उन सदस्यों के प्रति जो अंतिम समय में उनके पास थे, उनके अंतिम शब्द ये थे, "मैं नहीं चाहता कि मेरा कोई स्मारक बनाया जावे या मूर्ति स्थापित की जावे। मैं चाहता हूँ कि लोग अपने देश को प्यार करें और अपना जीवन उत्सर्ग करके उसकी सेवा करें।'

यह संदेश सम्पूर्ण भारत के लिए है, केवल उनके अपने अनुयायियों के लिए नहीं है।

सेवा के द्वारा ही उन्होंने अपने देश को पहचानना सीखा। भारत के लिए उनका प्रेम

सच्चा था और इसलिए भारत के लिए ऐसा कुछ नहीं चाहते थे जो समग्र मानवता के लिए भी वे न चाहते हों। यह अंध प्रेम नहीं था क्योंकि उनकी दृष्टि से उसके दोष और कमियाँ ओझल नहीं थीं। यदि हम भारत को उसी तरह प्रेम कर सकें जैसा वे करते थे तो शान्तिनिकेतन में हमारा आना इसलिए सार्थक होगा कि हम भारत के प्रति अपना कर्तव्य यहाँ आकर सीख सकेंगे। उस उत्साह का अनुकरण कीजिए जो उनके द्वारा किए हर काम में दिखता था, उस प्रेम का जो उनके जीवन का नियम था, उस सच्चाई का, जो उनके प्रत्येक कार्य का पथ-प्रदर्शन करती थी और उस कार्यदक्षता का, जो उनके हर कार्य का विशेष लक्षण था।

भारत एक वीरात्मा की खोज में था जो सत्यनिष्ठ हो। वह मुझे श्री गोखले के रूप में मिला। भारत के प्रति उनका प्रेम और श्रद्धा सच्ची थी। देश सेवा के लिए उन्होंने अपने सुखों का त्याग कर दिया। रोगशय्या पर भी वे भारत के हित की चिन्ता में व्यस्त रहते थे। कुछ दिन पहले जब वे रोग से पीड़ित थे हममें से कुछ को उन्होंने बुलाया और भारत के उज्ज्वल भविष्य के संबंध में अपनी कल्पना बताई। डाक्टरों ने उन्हें काम न करने की सलाह दी, किन्तु उन्होंने उसे न माना। कहा, "मुझे कार्य से मृत्यु ही अलग कर सकती है"— और अन्त में मृत्यु ने ही उन्हें विश्राम दिया। ईश्वर उन्हें सद्‌गति दे।

(हस्तलिखित आश्रम पत्रिका तथा तत्त्वबोधिनी पत्रिका से)

आश्रम में श्रीयुक्त मोहनचाँद करमचाँद गान्धी और उनकी सहधर्मिणी

श्री सुधाकान्त रायचौधुरी[1]

सत्यनिष्ठ और कर्मवीर श्रीयुक्त गान्धी महाशय की अभ्यर्थना के लिए उनके आगमन के प्रायः एक महीने पहले से ही हमारे बीच चर्चा शुरू हो गई थी। जिनके नेतृत्व में अशिक्षित मजदूर वर्ग ने भी आत्मसम्मान के लिए विदेश में रहकर, दिन पर दिन असह्य उत्पीड़न सहन करते हुए भी अन्याय का दमन करने का यथासाध्य प्रयत्न किया है, जिनकी अदम्य शक्ति ने समग्र आफ्रिका प्रवासी भारतवासियों को अन्याय के विरोध में खड़ा करने के लिए तैयार किया, उनका सपत्नीक आश्रम में दर्शन होगा—इस आनंद की कल्पना से हम अधीर हो गए थे। जिस दिन तार पहुँचा कि गान्धी महाशय सपत्नीक फर्वरी की १७ तारीख को आश्रम में आवेंगे—सम्पूर्ण आश्रम में उस दिन आनंद की धूम मच गई। आश्रम के छात्र अपरिमित आनन्द के साथ आयोजन में लग गए जिससे उनकी अभ्यर्थना सुचारु रूप से तथा भारतीय ढंग से हो। अभ्यर्थना के पूर्व दिन की रात साढ़े बारह बजे और उसके पहले दिन की रात डेढ़ बजे तक सड़कों पर अभ्यर्थना का आयोजन करने के लिए श्रम किया। ऐसे उत्साह के साथ, ऐसे आनन्द के साथ उन्होंने इस परिश्रम को वहन किया जो कभी भुलाया नहीं जा सकता।

इस अभ्यर्थना के नेतृत्व का भार आश्रम के सुयोग्य अध्यापक श्रीयुक्त क्षितिमोहन सेन महाशय ने ग्रहण किया। विगत १७ फर्वरी को सायंकाल गान्धी महाशय ने सपत्नीक आश्रम में प्रवेश किया। उनको अभ्यर्थना करने के लिए आश्रम के नवीन तैयार किए हुए मार्ग के सिरे पर एक चँदोवा तैयार किया गया। वहाँ उनको यथारीति पुष्प चन्दनादि का अर्घ्य दिया गया। इस समय भारतीय वाद्ययंत्रों (एसराज और सितार) के साथ आश्रम के संगीताचार्य श्रीयुक्त भीमराव शास्त्री ने गान किया। पहले द्वार-तोरण को पार करके उन पतिपत्नी ने दूसरे तोरण-द्वार में प्रवेश किया। वहाँ पैर धोने के लिए जल दिया गया। इस तोरण पर आश्रम को मातृस्थानीया दार्शनिक पण्डित पूज्यपाद श्रीयुक्त द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर महाशय की पुत्रवधू श्रीमती हेमलता देवी तथा अन्यान्य उपस्थित महिलाओं ने गान्धीजी की पत्नी का हिन्दू रीति के अनुसार यथायोग्य द्रव्य द्वारा अभ्यर्थना की। यहाँ से वे अंत में 'अन्तः तोरण' पर आए। इस तोरण के सामने उत्तर को ओर मिट्टी का एक पद्मपुष्पाकार

---

१. शान्तिनिकेतन के पुराने छात्र और कार्यकर्ता (१८९४—१९६९)। प्रस्तुत विवरण में और श्री प्रफुल्लचन्द्र चौधुरी के विवरण में समानता है, फिर भी दोनों यहाँ दिए जा रहे हैं—दोनों ही रोचक हैं। —संपा०

आसन बनाया गया था। यह आसन भी वैदिक युग की अभ्यर्थना प्रणाली के आसन के अनुकरण पर निर्मित हुआ था। इस आसन के पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा के कोणों में यथारीति चार केलों के वृक्ष तथा आम के पत्तों से आच्छादित चार मिट्टी के घड़े स्थापित किए गए थे। इसके अतिरिक्त जिस आसन पर गान्धीजी और उनकी पत्नी आसीन थे—उसके सामने पंचप्रदीपों को चार पंक्तियां सजाई गई थीं। यहाँ महिलावर्ग की ओर से एक बालिका ने दोनों अतिथियों की पुष्पमाला द्वारा अभ्यर्थना की तथा गांधीजी की पत्नी के ललाट पर सिन्दूर लगाया। सिन्दूर लगाने के पश्चात् बालिका ने आशीर्वाद रूप में दोनों की चरणरेणु लेकर माथे पर लगाई। यहाँ भी पंडित क्षितिमोहन सेन महोदय तथा अन्य दो महाराष्ट्र के अध्यापकों ने वेदमंत्रों का पाठ किया तथा बंगला और गुजराती में अनुवाद करके अभ्यर्थना समाप्त की। प्रत्येक तोरण में प्रवेश के समय भी क्षितिमोहन बाबू ने वेदमंत्रों का पाठ किया और उनका बंगला अनुवाद किया, महाराष्ट्र के अध्यापक ने उनका गुजराती अनुवाद किया। अंतिम अभ्यर्थना के अंत में श्रीयुक्त दीनेन्द्रनाथ ठाकुर महाशय के नेतृत्व में आश्रम के बालकों ने दो गीत गाए। अभ्यर्थना के अंत में गान्धीजी ने इस प्रकार अपना मन्तव्य प्रकट किया—आज जिस आनन्द का अनुभव हुआ—इसके पहले ऐसे आनंद का अनुभव कभी नहीं हुआ। आज आश्रमगुरु रवीन्द्रनाथ यद्यपि स्वयं यहाँ हमारे बीच उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनके साथ प्राणों के योग का अनुभव कर रहा हूँ। भारतीय परंपरा के अनुसार यहाँ अभ्यर्थना का आयोजन हुआ है, यह देखकर मैं अत्यंत आह्लादित हुआ हूँ। बंबई में यद्यपि बड़े समारोह के साथ हमारी अभ्यर्थना हुई थी तथापि आनंद अनुभव करने लायक वहाँ कोई बात नहीं थी ; क्योंकि उस अभ्यर्थना में पश्चिमी ढंग का विशेष रूप से अनुकरण किया गया था। हमलोग अपने आदर्श के माध्यम से ही अपने लक्ष्य के समीप पहुँच सकते हैं, विदेशी आदर्श के माध्यम द्वारा नहीं, क्योंकि हम प्राच्य हैं। भारतवर्ष की सुन्दर रीतिनीति द्वारा ही हम मनुष्य बनेंगे एवं इस आदर्श द्वारा ही हम भिन्नादर्श अवलम्बी जातिको बन्धुरूप में अपनावेंगे। भारत प्राच्य आदर्शों के द्वारा ही पूर्व और पश्चिम को बन्धुरूप में स्वीकार करेगा। बंगाल के इस आश्रम में आज मैं अत्यंत परिचित हूँ, मैं आपके लिए अन्य नहीं हूँ। सुदूर आफ्रीका में भी मुझे अच्छा लगा था। कारण, वहाँ आफ्रिकाप्रवासी भारतीय लोगों ने प्राच्य रीतिरिवाजों को छोड़ा नहीं है ; यह कहकर उन्होंने समवेत लोगों को धन्यवाद देते हुए नमस्कार करके आसन ग्रहण किया।

आश्रम में गान्धी महोदय को पाकर हम लोगों को उनका अन्तरंग परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। स्वदेश को प्रेम करने पर मनुष्य को स्वदेश के लिए कितना त्याग स्वीकार करना

पड़ता है, कितना आत्मसंयमी होना होता है कितना आत्माभिमान से रहित होना होता है और मन कितना बलवान् होता है—गान्धी महाशय के जीवन में प्रत्यक्ष देखा। गान्धी महाशय यद्यपि आधुनिक विश्वविद्यालय के एक प्रसिद्ध स्नातक हैं और श्रेष्ठ बैरिस्टर हैं किन्तु तो भी पाश्चात्य सभ्यता की विलासिता और आरामप्रियता का उनके ऊपर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं दिखा। उनको देखते ही मन में आता है कि वे शुद्ध भारतवासी हैं और सच्चे देशनायक हैं। नेतृत्व ग्रहण करने पर मन में कितनी शक्ति की आवश्यकता होती है और जिस मात्रा में न्यायनिष्ठ होना पड़ता है—गान्धी महाशय के मन में उस मात्रा में शक्ति है और वे अत्यंत न्यायनिष्ठ हैं। उनकी स्त्री तथा पुत्रों में भी विलासिता का कोई प्रभाव नहीं है। गान्धी महाशय—जैसे एक ओर सर्वसाधारण की अपेक्षा बहुत ऊँचे हैं उसी प्रकार दूसरी ओर वे दीनतम व्यक्ति के साथ हैं, उसके साथ अपनेपन से मिल सकते हैं। दीनतम व्यक्ति भी गान्धी महाशय के समीप बिलकुल निर्भय होकर उपस्थित हो सकता है। हमलोग गान्धी महाशय से बड़े डरे हुए से बातचीत करते थे। उसका एकमात्र कारण यह है कि देश की सेवा के लिए वे दुःखदैन्य की, आत्मत्याग की, स्वार्थत्याग की जिस भूमि पर पहुंच गए हैं, हमारी वाक्यराशि वहाँ पहुँचने पर भी हम इस स्थान से बहुत दूर पड़े हुए हैं। अपने में, अपने सिद्धान्त के विषय में दृढ़ विश्वास की रक्षा करना ही गान्धी महाशय के चरित्र की आश्चर्यपूर्ण दृढ़ता है। इस दृढ़ता के लिए ही उनके समीप आफ्रिका प्रवास के समय की कारायंत्रणा, अन्याय, अत्याचार तथा अन्यान्य नानाविध दुःख कष्ट असह्य नहीं हुए। गान्धी महाशय को केवल आदर्श कर्मवीर कहना उनको छोटा करना है। वे केवल आदर्श कर्मवीर नहीं है, आदर्श न्यायनिष्ठ भारत के सेवक हैं। हम जो कुछ दिन उनके समीप रहे—उन थोड़े से दिनों में ही उनको देखकर हमने अपने आपको धिक्कारा है। बातों के द्वारा कर्म की व्याख्या करना गान्धी महाशय का स्वभाव नहीं है, कर्म के द्वारा ही कर्म की व्याख्या करना उनका स्वभाव है। पहले कहा है कि गान्धी महाशय केवल आदर्श कर्मवीर ही नहीं हैं—न्यायनिष्ठ सत्यनिष्ठ भी हैं। स्वर्गीय गोखले गान्धी के राष्ट्रगुरु थे। गोखले ने किसी कारण से गान्धी से आफ्रीका के किसी एक कार्य से विरत होने के लिए कहा था। गान्धी महाशय ने उनके अनुरोध पत्र के उत्तर में लिखा था, "आपके लिए जीवन दे सकता हूँ, किन्तु सत्य को—कभी अस्वीकार नहीं कर सकूँगा।" कहना व्यर्थ है यह एक घटना ही गान्धी महाशय की न्यायनिष्ठा का प्रमाण है।

गान्धी महाशय के कुछ पुत्र और कुछ छात्र हमारे आश्रम में कुछ महीनों से रह रहे हैं। गान्धी महाशय की इच्छा थी, कि वे कुछ महीने सपत्नीक साथ आश्रम में रहेंगे, किन्तु

उनकी वह आशा पूर्ण नहीं हुई। विगत १९ फरवरी को सुबह गान्धी महाशय को तार मिला कि महात्मा गोखले इस जगत् में नहीं रहे। इस आकस्मिक निदारुण समाचार से वे विशेष दुःखी हुए। उनके उज्ज्वल मुखमण्डल पर विषाद की काली रेखा छा गई। स्वदेश के एकनिष्ठ सेवक गोपालकृष्ण गोखले की मृत्यु के समाचार से आश्रम में विषाद छा गया। तार पाते ही विद्यालय का कार्य बंद हो गया। शोक प्रदर्शन के लिए तत्क्षण एक सभा आयोजित की गई। श्रीयुक्त गान्धी महाशय ने सभापति का आसन ग्रहण किया। आश्रम के छात्रों को स्वर्गीय कर्मवीर की जीवनी संक्षेप में बताने के लिए आश्रम के सर्वजनप्रिय अध्यापक श्रीयुक्त नेपालचन्द्र राय महाशय से अनुरोध किया गया। उन्होंने अत्यंत प्राञ्जल भाषा में विषय को समझाया। उसके पश्चात् सभापति महोदय ने अपना वक्तव्य इस प्रकार व्यक्त किया।

श्रीयुक्त गोखले, जिन्होंने कुछ दिन पहले सशरीर हमसे भेंट की थी, आज परलोकवासी हैं। उनके वियोग से देश की सामूहिक क्षति हुई है, उस पर और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, सर्वसाधारण गोखले की कार्यकुशलता से ही परिचित था। सभी ने उनकी कर्ममूर्ति को ही देखा था, बहुत ही कम लोग उनके धर्मजीवन की बात जानते थे। सत्य, धर्म ही उनकी कर्मशक्ति के मूल में थे। गोखले प्रकृत सत्यनिष्ठ योद्धा थे। देश के प्रति उनमें अकृत्रिम प्रीति तथा श्रद्धा थी। देश की सेवा के लिए उन्होंने समस्त सुख, समस्त स्वार्थ को एकदम छोड़ दिया था। रोगशय्या पर पड़े हुए भी देश की मंगल चिन्ता से वे मुक्त नहीं हुए। कुछ दिन पहले एक दिन रात को जब वे रोगशय्या पर अत्यंत कातर पड़े हुए थे—उन्होंने हममें से कुछ लोगों को बुलवाकर देश की बातें कहीं, देश के संबंध में अपनी भविष्य की आशा की बात उन्होंने बताई। चिकित्सकों ने बार बार उनसे काम से विश्राम लेने की सलाह दी थी। किन्तु उन्होंने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने कहा, "मृत्यु को छोड़कर और कोई मुझे कर्म से विरत नहीं कर सकता।" उसी मृत्यु ने उन्हें शान्ति दी। भगवान उनकी आत्मा को शान्ति दें।"

पीछे कहा है, गान्धी महाशय कुछ भी बातों से नहीं, आचरण के द्वारा व्यक्त करते हैं। गोखले की मृत्यु से वे व्यथित हुए, किन्तु अधीर नहीं हुए। गोखले की 'सर्वेंट्स आफ इण्डिया सोसायटी' के काम में कोई अव्यवस्था उत्पन्न न हो, इसलिए वे बिना विलम्ब किए उसी दिन पूना के लिए रवाना हो गए।

आश्रम से गान्धी महाशय और उनकी पत्नी दोनों ने नंगे पैर बोलपुर स्टेशन की यात्रा की। आश्रम के बहुत से व्यक्ति उन्हें बिदाई देने के लिए स्टेशन गए थे। यह देखकर कि वे

प्लेटफार्म पर खड़े हैं उनके लिए आरामकुर्सी लाई गई, किन्तु वे उस पर बैठे नहीं। वे केवल फलभोजी हैं, अन्य चीजें नहीं खाते। उस दिन वह भी नहीं खाया। सम्पूर्ण देश में जो प्राणसंचार करने आए हैं—उनके जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिए और उनका जीवन कितना सीधा-सादा होना चाहिए, गान्धी महाशय की ओर देखने से यह अच्छी तरह समझा जा सकता है। स्टेशन पर गाड़ी पहुंचने पर वे तीसरे दर्जे में बैठे। गान्धीजी की पत्नी गान्धी की छाया के समान हैं। प्रत्येक विषय में स्वामी का अनुसरण करके नारीसमाज में धन्य हुई हैं। उनकी चरणधूलि पाकर हम धन्य हो गए हैं।

आश्रम से गान्धी महाशय के दूर चले जाने पर भी उन्हें हम फिर आश्रम में पा सकेंगे—यही हमारी आशा है।

[बंगला तत्त्वबोधिनी पत्रिका सन् १९१५ के फरवरी अंक से]

—संक० रा० तो०

१९२० ई०

१९२० ई० में १३ से १७ सितंबर तक गांधीजी शान्तिनिकेतन में ठहरे। १७ सितंबर को उन्होंने जो भाषण दिया वह २६ सितंबर के नवजीवन में गुजराती में प्रकाशित हुआ था। संपूर्ण गांधी वाङ्मय खण्ड १८ के पृ० २८६—२८८ पर वह प्रकाशित हुआ है। उसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। गान्धीजी की इस यात्रा का और कोई विवरण प्राप्त नहीं है।

१७ सितंबर, १९२०।

भाइयो और बहनो,

आपके साथ थोड़े दिन के सहवास का जो आनन्द मिला, वह तो अवर्णनीय है। मैं अपनी गिरी हुई तन्दुरुस्ती सुधारने यहाँ आया था और आप को यह जानकर आनन्द होगा कि मैं बिलकुल स्वस्थ होकर नहीं, तो भी पहले से काफी अच्छी सेहत लेकर जरूर जाऊँगा।

मुझे यह बुरा लग रहा है कि आपके साथ बंगला में बातें नहीं कर सकता। मेरे ख्यालसे किसी दिन आपके साथ बंगला में बात करने की मेरी आशा चाहे पूरी न हो, तो भी मेरी यह आशा तो हरगिज अनुचित नहीं कि आप मेरी हिन्दुस्तानी समझ सकेंगे। जबतक आपके स्कूल में हिन्दुस्तानी अनिवार्य विषय न हो जाये और आप उसे सीख न लें, तबतक आपकी शिक्षा सम्पूर्ण नहीं कही जा सकती। और एक बात मैं आप से छिपाना नहीं चाहता कि मैं आपकी पाठशाला को, धीरे-धीरे ही सही, अत्यन्त उद्यमी मधुमक्षिकाओं से भरा हुआ सुन्दर छत्ता बना हुआ देखने की आशा रखता हूँ। जबतक हमारे हृदय के साथ हमारे हाथों का सुन्दर सहयोग न हो तबतक हमारा जीवन सच्चा जीवन नहीं बनेगा।

मुझे लगता है कि मैं अभी तक जिस काम में लगा रहा हूँ, उसका रहस्य छोटे बच्चों के सामने भी रखा जा सकता है। फिर भी मैं जो कहनेवाला हूँ, वह केवल बालकों के लिए नहीं है। मैंने अपने बच्चों से और दक्षिण आफ्रिका में जिन्हें मैंने अपने ही बच्चे मान लिया था, उनसे कभी कोई बात छिपा नहीं रखी।

मेरे लिए तो केवल एक धर्म है। वह है हिन्दू धर्म। मैं अपने को हिन्दू कहता हूँ और उसमें गर्व का अनुभव करता हूँ, मगर मैं कोई कट्टर कर्मकाण्डी हिन्दू नहीं हूँ। मैं हिन्दू धर्म को जिस प्रकार समझता हूँ, तदनुसार वह अत्यन्त व्यापक है। उसमें अन्य सब धर्मोंके लिए समभाव है, आदर है। इसलिए मैं अपने धर्म की रक्षा के लिए जितने उत्साह और वेग से प्रयत्न करूँगा, उतने ही उत्साह और वेग से इस्लामकी रक्षा करते हुए आप मुझे देखते हैं। इस्लाम का बचाव करने में मुझे बेहद प्रसन्नता होती है, क्योंकि मुझे लगता है कि ऐसा करके मैं अपने धर्म का बचाव करने की योग्यता प्राप्त कर रहा हूँ। पशुबल पर आधार रखने वाले यूरोप के शक्तिशाली देशों का खतरा जितना इस्लाम पर मँडरा रहा है, उतना ही हिन्दू धम पर मँडरा रहा है। आज इस्लाम की बारी है, कल हिन्दू धर्म की बारी आ सकती है। मेरे विचार से हिन्दू धर्म पर खतरा तो तभी से है जब से ब्रिटिश हुकूमत इस मुल्कमें आई है। यह खतरा बहुत सूक्ष्म रूप में रहा है। मैंने देखा है कि हमारे विचारकों की जड़ें पाश्चात्य प्रभाव से हिल उठी हैं। पाश्चात्य सभ्यता शैतानकी रचना है। अनेक वर्षों से हम (उसकी) अजीब माया के भुलावे में पड़े हुए हैं। मेरी आँखें तो दरअसल पिछले साल ही खुलीं। मित्र-राष्ट्र युद्ध में शरीक हुए, तब उनका प्रगट उद्देश्य तो निर्बल राष्ट्रों की रक्षा करना था, परन्तु इस उद्देश्य को आड़में उन्होंने अनेक छल-कपट के प्रयोग किये। फिर भी पिछली अमृतसर कांग्रेस के समय सरकार के साथ सहयोग करने के लिए मैंने देश से अत्यन्त आग्रहपूर्वक और सच्चे दिल से अनुरोध किया, क्योंकि मुझे उस वक्त तक भरोसा था कि ब्रिटिश प्रजा अपने पापों के लिए पश्चात्ताप करेगी और ब्रिटिश (प्रधान) मंत्री अपने वचनों का पालन करेंगे। परन्तु पंजाब के काण्ड को जिस तरह निपटाया गया, उसे देखकर और टर्की की सुलह की शर्तें प्रगट होने पर मेरा वह सारा विश्वास जाता रहा। मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि मनुष्य के जीवन में एक बार ऐसा अवसर अवश्य आता है, जब उसे ख़ुदा या शैतान दोनों में एक को चुनना पड़ता है। ब्रिटिश राजसत्ता के साथ इतने वर्षों के सहयोग के परिणामस्वरूप मैंने यह देखा कि इन सत्ताधारियों के साथ जिसका पाला पड़ता है, उसकी अवनति होती है। मुझे निश्चित प्रतीति हो गई है कि जब तक भारत अपना आदर्श समझ न जाये और हमारी सारी जनता को यह भान न हो

जाये कि इंगलैंड के लोगों के साथ उनका नाता बराबरी का है तबतक ब्रिटिश संबंध जारी रहने से हमारी अवनति होती ही रहेगी। मैंने यह भी देखा है कि मुसलमानों के साथ हमारी एकता बनाए रखना ब्रिटिश-संबंध कायम रखने की अपेक्षा कई गुना अधिक कीमती है और यदि मुसलमानों को हम उनके इस नाजुक समय में मदद न दें, तो यह एकता टिकाये रखना मुश्किल है। इसके सिवा, यदि राष्ट्र-शरीर का चौथाई भाग इस तरह पंगु हो जाये तो जनता में स्वदेशाभिमान का विकास होना अशक्य है।

इसलिए मैंने शौकत अली के साथ दोस्ती की और उन्हें अपना भाई बनाया। उनके साथ का अपना सम्पर्क मेरे लिए आनन्द और अभिमान की बात है। कुछ बातों में मेरा उनका मतभेद है। मैं अहिंसा-धर्मको माननेवाला हूँ। वे हिंसा-धर्म को मानते मालूम होते हैं। वे यह मानते हैं कि कुछ परिस्थितियों में मनुष्य-मनुष्यका शत्रु हो सकता है, और दुश्मनों को कत्ल किया जा सकता है। परन्तु फिर भी मैं उनके साथ काम कर रहा हूँ, तो उसका कारण यह है कि मैंने उनमें कुछ भव्य गुण देखे। वे वचन के पक्के हैं, अत्यन्त वफादार मित्र हैं, अत्यन्त शूरवीर हैं। उन्हें ईश्वर पर भारी श्रद्धा है। मुझे तुरन्त लगा कि इतने गुण तो धार्मिक मनुष्य में ही हो सकते हैं। उनकी धर्म-निष्ठा पर मुग्ध होकर ही मैंने उनका साथ किया और मैंने तो सदा ही विश्वास रखा है कि मेरे अहिंसा के सफल प्रयोग से वे अहिंसा की खूबी समझ सकेंगे।

अंग्रेजी शब्द 'इनोसेंस' में अहिंसा शब्द के जितने भाव आते हैं, उतने किसी अन्य शब्द में नहीं आते। इसलिए अहिंसा और 'इनोसेंस' शब्द लगभग समानार्थी कहे जा सकते हैं। मेरा विश्वास है कि अहिंसा के मार्ग पर चलने वाले की सभी तरह कुशल है। अहिंसा के मार्ग पर चलनेवाले को जो शस्त्र प्राप्य हैं, वे हिंसामार्गी को मिल सकनेवाले शस्त्रों से अधिक जोरदार हैं। हिंसाकी योजना को मैं एक जंगली योजना कह सकता हूँ। उसमें पाशविकता अवश्य रहती है। अहिंसा-धर्म का सम्पूर्ण पालन करने वाला ही पूरी मर्दानगी दिखा सकता है। एक आदमी भी पूरी तरह अहिंसामय जीवन बिताने को तैयार हो, तो संसार को वश में कर सकेगा। मैं नम्रता से कहूँगा कि आज अपने इस जर्जर शरीर से भी इतनी भारी लड़ाई छेड़ने की मुझमें जो शक्ति है, तो वह मेरे अहिंसा-धर्म के पालन के कारण ही है। और हिन्दू अपना धर्म पहचान कर उसका पालन करें तो दुनिया पर अपना असर जरूर डाल सकेंगे। जिस दिन भारत हिंसा-धर्म को प्रधानता देगा, उसी दिन मेरा जीवन शून्यरूप हो जायेगा।

परन्तु मेरा विचार अब भी अडिग है। और यदि आप हिन्दू माता-पिता की संतान यह समझ लें कि हिन्दू के नाते विश्व के प्रति आप का कर्तव्य क्या है, तो आप कभी अन्याया

और दुर्जनों के साथ सहयोग नहीं करेंगे । दुर्जनों का संग न करने के बारे में तुलसी दास जी ने जो अमर दोहे लिखे हैं उनके सौन्दर्य की तुलना नहीं हो सकती। ब्रिटिश राज्य इस समय जिस प्रकार का है, उस से भारत को किसी शुभ की आशा रखना ऐसा ही है, जैसा आकाश को बाहुपाश में बांधने की कोशिश करना। मैंने तो इस राज्य के साथ कई वर्ष तक घनिष्ठ सहयोग किया है और उस सहयोग के अन्त में मुझे कुछ जबरदस्त अनुभव हुए हैं। उन अनुभवों के परिणामस्वरूप ही मैंने यह भयंकर किन्तु उदात्त और तेजस्वी युद्ध छेड़ा है और आप सबको उसमें सम्मिलित करने के लिए खप रहा हूँ। इस धर्म-मंदिर में मैं आप से इतना ही मांगता हूँ कि आप यह प्रार्थना करें कि आत्म-विकास के इस युद्ध में ईश्वर मुझे आरोग्य और सन्मति दे और दोष तथा कातरता से सदा ही दूर रखे।

१९२५ ई०

गान्धीजी शुक्रवार, मई २९ को रात में बोलपुर पहुँचे। स्टेशन पर चार्ली फ्रियर एण्ड्रयूज ने अन्य लोगों के साथ उनका स्वागत किया और शान्तिनिकेतन ले गए। यहाँ पहुँचने पर शान्तिनिकेतन भवन के फूलों से सजे एक कमरे में उन्हें ले जाया गया। गांधीजी ने गुरुदेव से प्रश्न किया, "नव वधू के इस घरमें मुझे क्यों लाया गया है?" गुरुदेव ने मुस्कराते हुए कहा, "हमारे हृदयों की चिरयुवा रानी शान्तिनिकेतन आपका स्वागत करती है।"

इस बार गान्धीजी तीन दिन (शनिवार, रविवार, सोमवार, २९, ३०, ३१ मई) शान्तिनिकेतनमें ठहरे। गुरुदेव तथा एण्ड्रयूज से उन्होंने चर्खा और खादी कार्यक्रम के विषय में विचार विनिमय किया। एंग्लो-इण्डियनों के प्रश्न पर डा० मोरेनो से बातचीत की तथा शान्तिनिकेतन के विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए संक्षिप्त भाषण दिया। इस यात्रा का विस्तृत विवरण नहीं मिलता।

भाषण

"मैं तुमसे तुम्हारी कविता, साहित्य या संगीत छोड़ने के लिए नहीं कहता। मैं इतना चाहता हूँ कि इन बातों के साथ तुम प्रतिदिन आधा घंटा चर्खे के लिए दो। अभीतक यह बहाना किसी ने नहीं प्रकट किया कि उसके पास आधा घंटा भी नहीं है। चर्खा हमें अपनी संकीर्णता पर विजय पाने में सहायता करेगा। आज उत्तरी भारत का एक व्यक्ति बंगाल जाता है तो उसे बताना पड़ता है कि वह भारतीय है। अन्य प्रान्तों में रहनेवाले बंगाली अपने को विदेशी समझते हैं। इसी तरह, दक्षिण भारतीय विदेशी हो जाते हैं जैसे ही वे उत्तरी भारत में पैर रखते हैं। चर्खा ही केवल एक ऐसा तरीका है जो हम

बड़ो दादा (द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर) तथा गांधीजी
सन १९२५

गान्धी रवीन्द्रनाथ और एण्ड्रूज

सबको यह अनुभव कराता है कि हम सब एक ही देश की संतान हैं। अभी तक हम कुछ नहीं पा सके हैं। हमें कम से कम कोई छोटी सी चीज़ तो किसी तरह पा लेनी चाहिए। विदेशी कपड़ों का बहिष्कार ऐसी बात है जिसे सब समान रूप से अपना सकते हैं, जिसमें सब समान रूप से अभय योगदान दे सकते हैं। अस्पृश्यता केवल हिंदुओं को ही आघात पहुँचाती है। हिंदू और मुसलमानों के बीच के झगड़े भी कभी न कभी खतम होंगे ही ; किन्तु यदि खादी नहीं रहे तो पूरा देश बेहद गरीबी में डूबा रहेगा। मध्य आफ्रीका में एक बीमारी है जो सोने की बीमारी कहलाती है। जब वह किसी पर आक्रमण करती है तो वह बेहोश हो जाता है और महीनों लकवे की स्थिति में पड़ा रहता है और अंत में मर जाता है। हमारे अपने देश में भी एक तरह की सोने की बीमारी जैसी फैली है, और इस बीमारी के लिए एकमात्र इलाज है, चर्खा।"

शान्तिनिकेतन

और क्या यह एक ही आकर्षण है जो बंगाल मेरे सम्मुख प्रस्तुत करता है? अनेक हैं। शान्तिनिकेतन बिना गए मैं कैसे रह सकता हूँ? ये टिप्पणियां मैं वहीं से मौन दिवस को लिख रहा हूँ। शान्तिनिकेतन के निवासी मुझे चरम शान्ति से मग्न कर देते हैं। लड़कियां मीठे गीत गाती हैं। मैंने कवि से घंटों बात की है और मेरे हृदय को पूर्ण संतोष मिला है। मैंने उनको और अच्छी तरह समझा है, मैं तो यह कहूँगा वे मुझे और अच्छी तरह समझने लगे हैं। मेरे प्रति उनका स्नेह असीम है। उनके बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, जो बड़ो दादा के नाम से प्रसिद्ध हैं, मेरे प्रति वैसा ही प्रेम रखते हैं, जैसा पिता का पुत्र के प्रति होता है। वे मेरे दोषों को एकदम देखना ही नहीं चाहते उनको उनकी दृष्टि में मैंने कभी कोई भूल नहीं की ; मेरा असहयोग, मेरा चरखा, मेरा सनातनी होना, हिन्दू-मुस्लिम एकता के संबंध में मेरे विचार और अस्पृश्यता के प्रति मेरी घृणा सभी उचित बातें हैं। स्वराज के मेरे विचार को उन्होंने अपना बना लिया है। ममतालु पिता अपने पुत्र के दोषों को नहीं देखना चाहता ; इसी प्रकार बड़ो दादा मेरे दोषों को नहीं देखना चाहते। मुझे उल्टो आसक्ति और उनका प्रेम ही दिखते हैं। मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। उस प्रेम के योग्य बनने का मैं प्रयत्न कर रहा हूँ। उनकी अवस्था अस्सी वर्ष से भी अधिक है। किन्तु वे साधारण से साधारण से भी अपने को अवगत रखते हैं। वे जानते हैं कि भारत में कहां क्या हो रहा है। वे दूसरों से पढ़वाकर जानकारी प्राप्त करते हैं। दोनों ही भाइयों को वेदादि का गंभीर ज्ञान

है। दोनों ही संस्कृत जानते हैं। उपनिषदों तथा गीता के मंत्र, श्लोक सदा उनके मुख से सुनाई पड़ते हैं।

शान्तिनिकेतन में चरखे के पुजारी भी हैं। कुछ नित्य नियम से कातते हैं कुछ कभी-कभी। अधिकांश खादी पहनते हैं। मैं आशा करता हूँ कि इस विश्वविख्यात संस्था में चरखे का और अधिक प्रचार होगा।

नन्दिनी बाला[1]

कदाचित कम ही गुजराती लोग जानते होंगे कि यहां कुछ गुजराती बच्चे रहते हैं। उनके कुछ परिवार भी यहां रहते हैं। ऐसा एक भाटिया परिवार था और उनके एक पुत्री पैदा हुई। उसकी मां बहुत बीमार हो गई और उसका दिमाग खराब हो गया। अतएव गुरुदेव की पुत्रवधू ने उस लड़की को गोद ले लिया और अब वे उसे पाल-पोस रही हैं। लड़की लगभग ढाई वर्ष की है। गुरुदेव को वह बड़ी प्यारी है। सब उसे उनकी नातिन के रूप में जानते हैं। आजकल गुरुदेव विश्राम कर रहे हैं। चूंकि वे हृदयरोग से पीड़ित हैं, डाक्टरों ने उनका घूमना-फिरना रोक दिया है। वे बड़ा दिमागी काम भी नहीं कर सकेंगे। अतः दिन में दो तीन बार वे इस लड़की—नन्दिनी से सहज मज़ाक करते हैं और उसे नाना प्रकार की कहानियां सुनाते हैं। यदि उसे कहानी नहीं सुनाते तो वह चिढ़ जाती है। अभी वह मेरे उपर नाराज़ी प्रकट कर रही है। वह फूलों का एक हार मुझसे लेने को राज़ी हो गई किन्तु अब मेरे पास बिलकुल नहीं आना चाहती। कौन जानता है वह मुझसे बदला ले रही हो क्यों कि उसको कहानी सुनाने के समय में मैं गुरुदेव से बातें कर रहा था। एक शिशु या एक राजा को नाराज़ी का पता कोई कैसे लगा सकता है? अगर एक राजा खीझे तो मेरे जैसा सत्याग्रही जानता है कि उससे कैसे निपटा जाय। किन्तु एक बच्चे की खीझ के सामने मेरा तेज़ हथियार अपनी चमक खो देता है। फिर मौन दिवस आड़े आ गया। और मैं नन्दिनी को प्रसन्न किए बिना ही शान्तिनिकेतन से चला जाता हूँ। अपनी असफलता की यह दुखद कहानी मैं किससे कह सकता हूँ।

३१ मई १९२५।

(दी कलेक्टेड वर्क्स अव महात्मा गांधी, भाग २७, पृ० २११—२२३)

---

१. गुरुदेव के पुत्र रथीन्द्रनाथ ठाकुर की पोष्य दुहिता—डा॰ गिरिधारी लाला की पत्नी, शान्तिनिकेतन में ही रहती हैं।

शान्तिनिकेतन में महात्माजी का शुभागमन
सन् १९४०
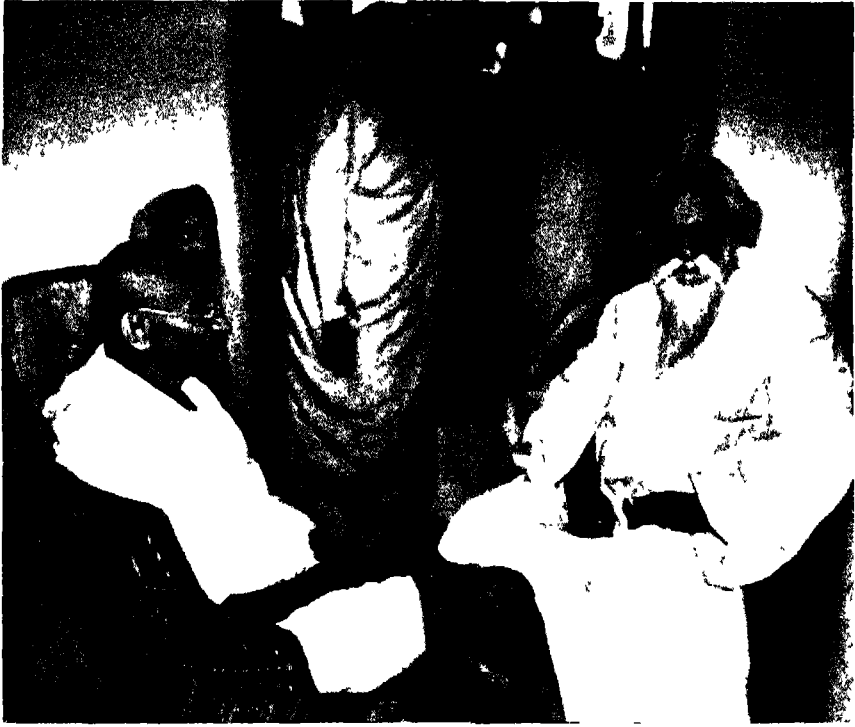
श्यामली में महात्माजी, गुरुदेव तथा कस्तूर बा
सन १९४०

आम्रकुञ्ज में गांधीजी का स्वागत समारोह
सन १९४०
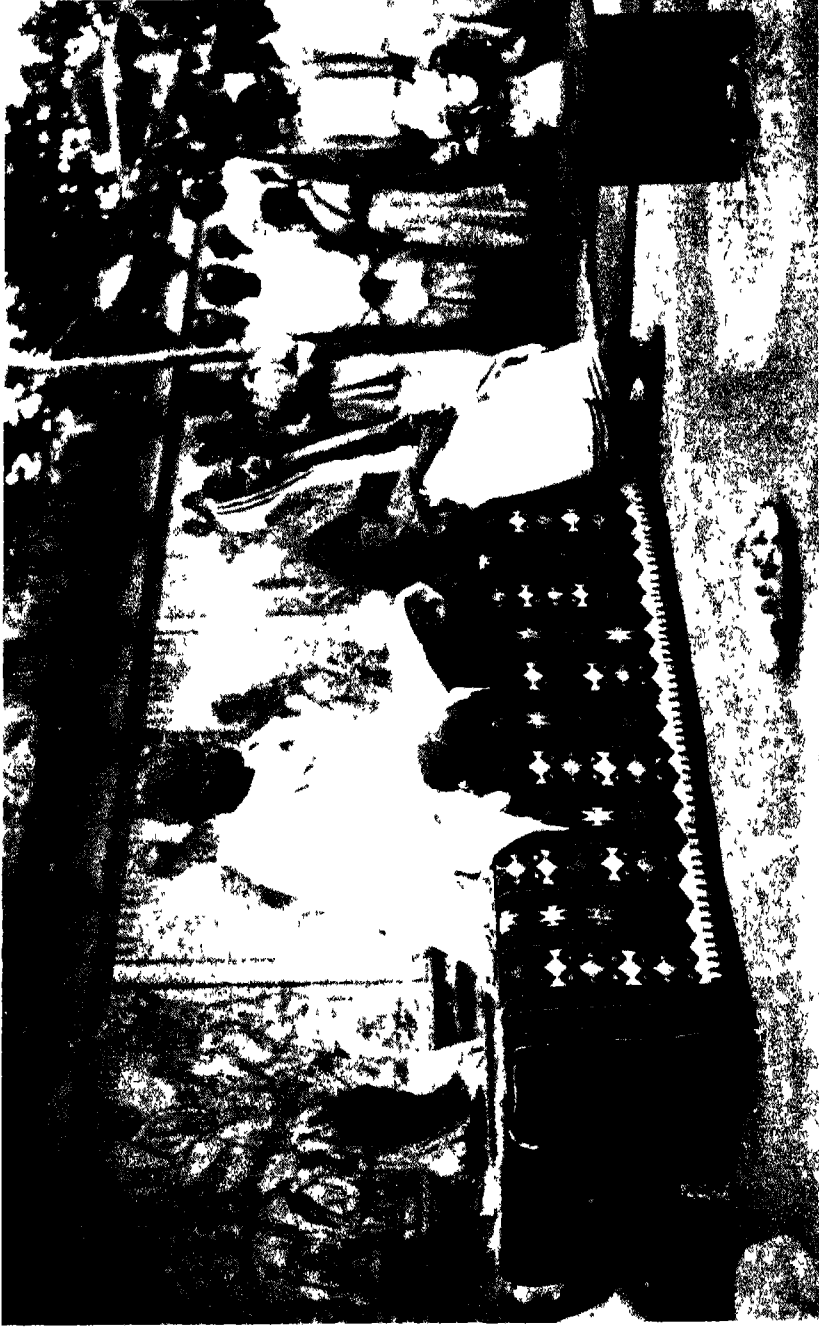
श्रीनिकेतन में गान्धीजी का स्वागत, १९४० ई० ।

[सौजन्य में शम्भु साहा

गुरुदेव और गान्धीजी, अन्तिम भेंट।

रोग शय्या पर सी० एफ० एण्ड्र्यूज, पास में गांधीजी एवं विधान चन्द्र राय
सन १९४०

१९४० ई०

इस यात्रा में महात्माजी दो दिन शान्तिनिकेतन ठहरे। फरवरी की सत्रह तारीख को वे शान्तिनिकेतन पहुँचे और १९ फरवरी को प्रातःकाल कलकत्ता के लिए रवाना हुए। मार्च, १९४० की 'विश्वभारती न्यूज़' में इस यात्रा का संक्षिप्त विवरण प्रकाशित हुआ था, जिसमें कहा गया है, 'इस महीने की सबसे बड़ी घटना महात्माजी और कस्तूरीबाई की दो दिन की यात्रा है। वे फरवरी १७ को हमारे आश्रम में दो दिन विश्राम करने के लिए पहुँचे।

'हमारी सावधानी बरतने के बावजूद शान्तिनिकेतन में दर्शकों की बाढ़ आ गई, महात्माजी अपने मन के अनुसार विश्राम कर सकें इसके लिए हमें बड़ा प्रयास करना पड़ा।

'यहाँ पहुँचते ही और उसके बाद महात्माजी ने गुरुदेव से श्री सी० एफ० एण्ड्रयूज़ की गंभीर बीमारी के विषय में चर्चा की, अपने भाषणों में उन्होंने एण्ड्रयूज़ का उल्लेख किया और इस अवसर पर उनकी अनुपस्थिति पर दुःख प्रकट किया।

'अपने निवास के दिनों में महात्माजी ने शान्तिनिकेतन तथा श्रीनिकेतन के विभिन्न विभाग देखे और चण्डालिका का अभिनय देखा जिसका आयोजन विशेष रूप से उनके लिए किया गया था। अनेक लोगों ने उनसे भेंट की तथा उन्होंने गुरुदेव से परामर्श किया। पुराने परिचितों से मिलकर तथा परिचित स्थान देखकर वे आनंदित हुए। १९ फरवरी को प्रातःकाल महात्माजी ने आश्रमवासियों से विदा ली और कलकत्ता के लिए रवाना हो गए।'

महात्माजी का स्वागत

सूर्यरश्मियों से आलोकित आम्रकुंज में महात्माजी का औपचारिक स्वागत १७ फरवरी के तीसरे पहर साढ़े तीन बजे किया गया। वे श्यामली में ठहरे थे। वहाँ से स्वागत समारोह स्थल तक पैदल ही आए। आश्रमवासियों के अतिरिक्त बोलपुर तथा आसपास के गाँवों से विशाल जनसमूह एकत्रित हो गया था जो आम्रकुंज को घेर कर खड़ा था। आम्रकुंज वैदिक मंत्रों की ध्वनि से गूंज रहा था।

गुरुदेव ने महात्माजी को माला पहनाई और यह कहते हुए स्वागत किया,

"मैं आशा करता हूँ कि अपने आश्रम में हम आपका स्वागत करने में प्रेम की मौन अभिव्यक्ति के निकट रह सकेंगे और वाक्यों के आडंबरपूर्ण प्रदर्शन में बह जाने से बचेंगे। महान पुरुषों के प्रति श्रद्धा निवेदन सहज भाषा में ही अभिव्यक्त होता है और हम ये थोड़े से

शब्द आपको यह प्रकट करने के लिए अर्पित कर रहे हैं कि हम आपको संपूर्ण मानवता के होने के कारण अपना समझते हैं।

इस समय ऐसी समस्याएँ हैं जो हमारे भाग्य को अंधकारमय बनाए हैं। आपके मार्ग को ये अवरुद्ध कर रहीं हैं और हम में से कोई भी उनके आक्रमण से मुक्त नहीं है। थोड़ी देर के लिए हम इस उथल-पुथल की सीमाओं से अपने को दूर हटा लें और अपनी इस सभा को आज हृदयों का सहज मिलन बनावें जिसकी स्मृति तब भी रहेगी जब हमारी विक्षिप्त राजनीति की सभी नैतिक गड़बड़ियों का अवसान हो जावेगा और हमारे सत्प्रयास के शाश्वत मूल्य प्रकट होंगे।"

हिन्दी में उत्तर देते हुए महात्मा गांधी ने सी० एफ० एन्ड्रयूज़ का स्नेहपूर्ण उल्लेख किया और कहा कि वे कलकत्ता में गंभीर रूप से बीमारी में पड़े हैं :

"सबसे पहले मैं एण्ड्रयूज का स्मरण कर रहा हूँ जिन्हें आज सुबह मैं सब कुछ छोड़कर देखने गया था। उनकी उत्कट इच्छा थी कि मुझे और कवि को यहाँ शान्तिनिकेतन में मिलते हुए देख सकें। आज के समारोह में उनकी अनुपस्थिति हम सब को कष्टकर प्रतीत हो रही है। हमें प्रार्थना करनी चाहिए कि वे शीघ्र स्वस्थ हो जाएं और परमात्मा उन्हें शान्ति प्रदान करे।

यद्यपि मैं इस यात्रा को तीर्थयात्रा समझता हूँ तथापि मुझे यह कहने की अनुमति दें कि यहाँ मैं आगन्तुक नहीं हूँ। मैं अनुभव करता हूँ जैसे मैं अपने घर आया होऊँ। इस इस प्रसंग में आश्रम के प्रारंभिक दिनों की १९१५ की याद कर रहा हूँ जब मुझे और मेरे परिवार को आतिथ्य सुलभ किया गया था, उस समय हमारे लिए अन्यत्र सुविधा प्राप्त नहीं थी।

तब से लेकर यह अनुभव करने के अनेक अवसर मेरे सामने आए हैं कि गुरुदेव का प्रेम मेरे प्रति कैसा है। स्वाभाविक है कि जैसे ही मुझे अवसर मिला मैं उनका आशीर्वाद प्राप्त करने यहाँ आया हूँ। सदा की भाँति मैं अपने भिक्षा-कार्य में सफल हुआ हूँ। मुझे गुरुदेव का आशीर्वाद प्राप्त हो चुका है और मेरा मन आनंद से परिपूर्ण हो गया है। मैं और नहीं बोलूँगा, क्यों कि जहाँ प्रेम का संबंध होता है शब्द किसी काम के नहीं रह जाते।"

अपनी इस यात्रा का विवरण महात्माजी ने २ मार्च, १९४० के हरिजन के अंक में इस प्रकार दिया था, "शान्तिनिकेतन की यात्रा मेरे लिए तीर्थयात्रा थी। शान्तिनिकेतन मेरे लिए नया नहीं है। प्रथम बार मैं वहाँ १९१५ में गया था जब वह प्रारंभिक अवस्था में

था, और विकसित हो रहा था, ऐसा नहीं है कि वह अभी भी विकसित नहीं हो रहा है। गुरुदेव स्वयं विकसित हो रहे हैं। वृद्धावस्था उनके मस्तिष्क की सजगता में कोई अंतर नहीं ला सकी है। अतएव, जबतक गुरुदेव की आत्मा की छाया उसके ऊपर है, शान्तिनिकेतन का विकास रुकेगा नहीं। वे शान्तिनिकेतन के हर व्यक्ति और हर वस्तु में हैं। प्रत्येक के मन में उनके प्रति जो श्रद्धा है वह उत्साहवर्धक है क्यों कि वह हार्दिक है। उसने वास्तव में उत्साहित किया।

कृतज्ञ छात्रों और अध्यापकों ने जो उपाधि उन्हें दी है वह उस श्रद्धा का ठीक परिचय देती है जो शान्तिनिकेतन के निवासी उनके प्रति रखते हैं। ऐसा इसलिए है कि उन्होंने उस स्थान के निवासियों में अपने को खो दिया है। मैंने देखा कि वे अपनी अत्यंत प्रिय रचना विश्वभारती के लिए जी रहे हैं, वे चाहते हैं कि वह फले-फूले और उसके भविष्य के संबंध में निश्चित होना चाहते हैं। उसके विषय में मेरे साथ उन्होंने विस्तार से बातचीत की, किन्तु उनके लिए वह पर्याप्त नहीं थी और इसलिए जैसे हम लोग बिछुड़े, उन्होंने मेरे हाथों में यह मूल्यवान् पत्र रख दिया :

उत्तरायन,

प्रिय महात्माजी, १९. २. ४०

अभी आज प्रातःकाल आपने हमारे क्रियाकलाप केंद्र विश्वभारती का विहंगावलोकन किया। मैं नहीं जानता उसकी विशेषता के संबंध में आपने क्या धारणा बनाई है। आप जानते हैं कि यद्यपि यह संस्था अपने प्रकृत पक्ष में राष्ट्रीय है तथापि अपनी क्षमता के अनुसार शेष संसार को भारतीय संस्कृति का आतिथ्य प्रदान करते हुए अपनी आत्मा में यह अंतर्राष्ट्रीय है; एक बार संकट के समय आपने उसे पूर्ण नष्ट होने से बचाया और उसे अपने पैरों पर खड़े होने में सहायता दी। इस मैत्रीपूर्ण कार्य के लिए हम सदा आपके आभारी हैं।

और अब, आपके शान्तिनिकेतन से विदा होने के पूर्व मैं आपसे अपना आंतरिक निवेदन करता हूँ। इस संस्था को अपने संरक्षण में स्वीकार करें; उसे स्थायित्व आश्वासन प्रदान करें यदि आप उसे राष्ट्रीय सम्पत्ति समझें। विश्वभारती एक जलपोत के समान है जो मेरे जीवन के सर्वश्रेष्ठ कोश का माल-असबाब लिए जा रहा है और मैं आशा करता हूँ कि मेरे देशवासियों से वह अपने संरक्षण के लिए विशेष ध्यान पाने का दावा कर सकती है।

प्रेमपूर्वक,

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

संस्था को अपने संरक्षण में लेनेवाला मैं कौन हूँ ? उसे परमात्मा का संरक्षण प्राप्त है क्योंकि वह एक पवित्रात्मा की सृष्टि है, यह दिखाने की चीज़ नहीं है गुरुदेव स्वयं अंतर्राष्ट्रीय हैं। क्योंकि वे वास्तव में राष्ट्रीय हैं। इसलिए उनकी सब रचना अंतर्राष्ट्रीय है और विश्वभारती सर्वोत्तम है।

मेरे मन में किसी प्रकार का संदेह नहीं है कि जहां तक उसके भविष्य से संबंधित आर्थिक प्रश्न का सवाल है गुरुदेव को पूरी चिंताओं से मुक्त रखना चाहिए। उनके मर्मस्पर्शी आवेदन के उत्तर में जितनी भी सहायता करने की मुझमें सामर्थ्य है, मैंने देने का वादा किया है। यह टिप्पणा उस प्रयत्न का प्रारंभ है।'

गुरुदेव के पत्र का महात्माजी ने जो उत्तर दिया था वह इस प्रकार है :

कलकत्ता के मार्ग में
१९. २. ४०.

प्रिय गुरुदेव,

मर्मस्पर्शी पत्र जिसे आपने मेरे हाथों में रख दिया था जब हम विदा ले रहे थे, सीधा मेरे हृदय में प्रवेश कर गया है। अवश्य ही विश्वभारती राष्ट्रीय संस्था है। निस्संदेह वह अंतर्राष्ट्रीय भी है। उसके स्थायित्व को सुनिश्चित करने के सम्मिलित प्रयास में जो मैं कर सकता हूँ वह सब मेरे करने के संबंध में आप आश्वस्त रह सकते हैं।

मैं आशा करता हूँ दिन में नियमित रूप से लगभग एक घंटा सोने के अपने वादे का आप रखेंगे।

यद्यपि शान्तिनिकेतन को सदा मैंने अपने दूसरे घर के समान समझा है इस यात्रा ने पूर्वापेक्षा मुझे उसके और निकट ला दिया है।

श्रद्धा और प्रेमपूर्वक,
आपका
मो० क० गांधी

गान्धीजी का बोलपुर स्टेशन पर आगमन, १९४५ ई० ।

एण्ड्रयूज भवन का शिलान्यास करते हुए गांधीजी, रथीन्द्रनाथ ठाकुर एवं क्षितिमोहन सेन
सन १९४५

१९४५ ई०

मंगलवार, दिसंबर १८ को विशेष रेलगाड़ी से महात्माजी बोलपुर पहुँचे।

संध्या समय था, शान्तिनिकेतन पहुँचते ही महात्माजी सीधे प्रार्थना स्थल पहुँचे।

शान्तिनिकेतन के केंद्र गौरप्राङ्गण में मञ्च तैयार किया गया था। वहां शाम का प्रार्थना की।

बुधवार, दिसंबर १९—मंदिर में प्रातःकाल साप्ताहिक प्रार्थना में भाग लिया।

तीसरे पहर शान्तिनिकेतन से लगभग एक मील दूर विनय भवन के समीप दीनबन्धु एण्ड्रयूज़ स्मारक अस्पताल का शिलान्यास किया।

सन्ध्या की प्रार्थना के बाद विश्वभारती के विभिन्न विभागों के अध्यक्षों से विश्वभारती की समस्याओं पर विस्तार से विचार विनिमय किया।

वृहस्पतिवार, दिसंबर २०—कलाभवन में शिल्पाचार्य नंदलाल बोस द्वारा आयोजित कला

प्रदर्शिनी देखी। बाद में विश्वभारती के अध्यापकों तथा कर्मचारियों से मिले। दोपहर को रामपुरहाट के लिए रवाना हुए।

(महात्माजी की इस अंतिम शान्तिनिकेतन यात्रा का वर्णन महात्माजी के निजी सचिव श्रीप्यारेलाल ने 'ए पिलग्रिमेज' नाम से लिखा है—'विश्वभारती न्यूज' से हम उसका हिन्दी रूपान्तर दे रहे हैं।)

शांतिनिकेतन-यात्रा

प्यारेलाल

गांधीजी की हाल की शांतिनिकेतन-यात्रा मधुर और कटु स्मृतियों से आपूरित थी। वे शांतिनिकेतन में किसी भी प्रकार अपरिचित न थे। दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटने के पहले भी वे भारत में चलनेवाली घटनाओं एवं भारतीय राष्ट्रीयवाद के तत्कालीन गण्यमान नेताओं के चरित ध्यानपूर्वक देखते रहे थे। गुरुदेव उन्हीं नेताओं में से थे। बाद में दीनबंधु चार्ली एण्ड्रयूज़ उन दोनों के बीच सम्पर्क के माध्यम बन गए और १९१५ में गांधीजी के दक्षिण अफ्रीका से लौटने पर फ़ीनिक्स आश्रम मंडली को, जो उनसे पहले भारत लौट आयी थी, शांतिनिकेतन में शरण मिली। गांधीजी उनमें कुछ बाद में सम्मिलित हुए।

उनके और गुरुदेव के बीच व्यक्तिगत सम्बन्ध तभी स्थापित हुआ। गुरुदेव ने उनसे उस अवसर पर कहा था: "मैं तो एक गायक हूँ। मैं शांतिनिकेतन के संचालन-पक्ष में हस्तक्षेप नहीं करना चाहता। आप जो चाहें, करने के लिए स्वतंत्र हैं।" और गांधीजी जबतक वहाँ रहे, अपनी आदत के अनुसार कतिपय प्राथमिक बातों जैसे सफ़ाई, रसोई, रोगी की परिचर्या आदि से प्रारम्भ कर उन्होंने वहाँ कुछ मूल सुधार लाने का प्रयत्न किया। तदन्तर वे गुजरात चले गए और वहीं बस गए परन्तु जैसे-जैसे वर्ष बीतते गए, गुरुदेव के साथ उनका स्नेह-सम्बन्ध बढ़ता गया और पाँच वर्ष पूर्व गांधीजी के अंतिम बार शांतिनिकेतन आने के समय दोनों में वस्तुतः बहुत घनिष्ठता हो चुकी थी। कदाचित् अपने सन्निकट अंत का पूर्वाभास पाकर गुरुदेव ने गांधीजी को दो दायित्व सौंपे थे: पहला, रुपए-पैसे के लिए कोई व्यवस्था करना और दूसरा संस्थान के प्रबन्धकीय मामलों में और गहरी रुचि लेना। गांधीजी ने पहले के सम्बन्ध में यथाशक्ति पक्का वादा किया था और दूसरे के सम्बन्ध में उन्होंने गुरुदेव से कहा था कि वे चाहे जहाँ रहें, शांतिनिकेतन के मामलों में रुचि लेंगे।

प्रस्तुत यात्रा उन्हीं दायित्वों के निर्वाह के सम्बन्ध में थी। गुरुदेव के दिवंगत होने के अनन्तर उनकी यह पहली संस्थान-यात्रा होनी थी। बंगाल की सरकार ने आवश्यकता समझ कर उनके लिए एक विशेष ट्रेन का प्रबन्ध कर दिया था। शामको, प्रायः प्रार्थना के समय, ट्रेन बोलपुर स्टेशन पहुँची। गांधीजी के डब्बे के सामने का फर्श अल्पना अथवा श्वेत कलात्मक अधिकल्पन से अलंकृत किया गया था। बोलपुर की एक बहन ने परम्परागत

भारतीय पद्धति से गांधीजी की भारती उतारी। वहाँ की प्रत्येक वस्तु पर सादगी से समन्वित कलात्मकता की मुहर थी। पुरुष एवं स्त्री-स्वयंसेवकों के आचरण में वहाँ के वातावरण की शांत-गरिमा प्रतिबिम्बित थी। उन्होंने दो पंक्तियों में खड़े होकर गांधीजी के निकलने के लिए रास्ता बनाया। दर्शन के लिए कोई शोर, कोई धक्कमधक्का नहीं हुआ। सारा वातावरण गहरे, संयत भावावेश से परिव्याप्त था।

स्टेशन से गांधीजी को सीधे शांतिनिकेतन के प्रार्थना प्रांगण में ले जाया गया जहाँ सब आश्रमवासी सान्ध्य-प्रार्थना के निमित्त एकत्र थे। धुँधलका छा रहा था। वातावरण कुछ घटित होने की संभावना से भारी-सा था। सघन कुंजों से आवृत्त एक निर्वृक्ष-क्षेत्र के बीच गांधीजी के लिए एक ऊँचा चबूतरा तैयार किया गया था। सामने ही लोबान सुलग रहा था। ऊपर हरित पत्तियों के वंदनवार और तोरण सन्ध्या की निस्तब्ध नीरवता में निश्चल झूल रहे थे। गुरुदेव के सुकोमल संगीत ने उस अवसर के गाम्भीर्य को और गहरा दिया था।

प्रार्थना के उपरान्त गांधीजी ने एक संक्षिप्त प्रवचन दिया जिसमें उन्होंने गुरुदेव की तुलना अपने घोंसले में पंख फैलाकर अंडे सेते हुए पक्षी से की : "उनकी बाँहों के ऊष्ण संरक्षण में शांतिनिकेतन अपने वर्तमान आकार में विकसित हुआ है। बंगाल उनके गीतों से गुंजरित है। उन्होंने न केवल अपने गीतों से अपितु अपनी लेखनी और तूलिका से भी भारत का नाम सारे संसार में महिमान्वित किया है। हम सब उनकी संरक्षक बाँहों के स्नेह से विरहित हो चुके हैं। लेकिन हमें संतप्त न होना चाहिये। अपने शोक का उपचार हमारे अपने ही हाथों में है....महान् विभूतियों की सच्ची स्मारिकाएँ संगमरमर, काँस्य अथवा सुवर्ण की प्रतिमाएँ नहीं होतीं। वास्तवमें उनका सर्वोत्तम स्मारक उनके रिक्थ को संवारना और परिवर्द्धित करना है। जो पुत्र अपने पिता के रिक्थ को विस्मृत कर देता है अथवा उसे विनष्ट कर देता है वह उसके उत्तराधिकार के अयोग्य ठहराया जायगा।"

"यद्यपि शांतिनिकेतन को गुरुदेव की महत् परम्परा के वस्तुतः योग्य बनाने का पुनीत कर्त्तव्य मुख्यतः रथीबाबू और उनके सहधर्मियों पर रहना चाहिये, तथापि यह दायित्व उन सब लोगों पर भी उससे कम नहीं है जिन्होंने गुरुदेव की बाँहों का स्नेह प्राप्त किया है, भले ही शांतिनिकेतन से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध न हों।

सभी मरणधर्माओं को एक दिन यह संसार अवश्य छोड़ देना है। पर गुरुदेव वह सब कुछ उपलब्ध करने के अनन्तर दिवंगत हुए हैं जिसे कोई मनुष्य अपने जीवन में प्राप्त करने की आकांक्षा कर सकता है। इसलिए उनकी आत्मा अब शांति में अवस्थित है। अब यह

आश्रमवासियों और उसके कार्यकर्त्ताओं का दायित्व है—वास्तव में उन सभी का दायित्व है जो गुरुदेव की भावना से अनुप्राणित हैं—कि वे सामूहिक रूप से उनके आदर्श का प्रतिनिधित्व करें।"

प्रवचन समाप्त हुआ, और उन्हें गुरुदेव की मृण्कुटी, श्यामली, में ले जाया गया, जिसे यह संज्ञा उसके श्यामवर्णी होने के कारण दी गयी है। गुरुदेव कुछ-कुछ आध्यात्मिक भ्रमणकर्त्ता थे। वे अधिक समय एक मकान में स्थिर नहीं रह सकते थे। इसलिए वे क्रम-क्रम से उदयन, उदीचि और पुनश्च, केवल कुछ का ही नामोल्लेख करें, में रहा करते थे, जो सब के सब उत्तरायण नामक क्षेत्र में संगुम्फित थे। 'पुनश्च' का शाब्दिक अर्थ है 'पश्च-लेख'। बाद में होने वाले 'अनुबोध' की भाँति 'पुनश्च' के निर्माण का विचार भी बाद में किया गया था।

गाँधी जी ने शांतिनिकेतन के लोगों से कहा था कि वे स्वयं को हमलोगों के स्वागत-सत्कार में न लगाएँ बल्कि हमलोगों को अपनों जैसा समझें। शांतिनिकेतन के लड़के-लड़कियों ने इसका अक्षरशः पालन किया। उन्होंने हमारे साथ ऐसा व्यवहार किया कि उनके बीच हमलोगों ने पूरी तरह घरेलू वातावरण का अनुभव किया। सुखद संयोगवश माणिकलाल गाँधी जिन्होंने उस फ़ीनिक्स आश्रमवर्ग का संगठन किया था जिसे गुरुदेव के परिवार द्वारा तीन दशक पूर्व अपनाया जा चुका था, गाँधी जी के दल के साथ थे। उन्होंने वर्त्तमान और अतीत के बीच एक जीवित श्रृंखला का कार्य किया।

मौसम सुहाना था, हवा स्फूर्तिदायक थी। सुबह तड़के ही हम वैतालिक की संगीत-लहरी द्वारा जगा दिए गए, जबकि गायक मंडलियां पूर्ण शरच्चंद्र के तले गुरुदेव के प्रिय गीतों का गायन करती हुई आश्रम की परिक्रमा कर रही थीं। उन्होंने उदीचिमें एक कक्ष के वातायन के नीचे, जहां कविवर बैठा, और काम किया करते थे, एक अंतिम सहगान और प्रणाम के साथ अपना कार्यक्रम समाप्त किया। रात में उसी सुमधुर संगीत की तान सुनकर हम सोने गए। यह एक अविस्मरणीय अनुभव था।

(२)

प्रत्येक बुधवार को शांतिनिकेतनवासी सम्मिलित प्रार्थना के निमित्त मंदिर में एकत्र होते हैं। गुरुदेव, जब तक वे जीवित रहे, इस अवसर पर एकत्र लोगों को अपना साप्ताहिक धर्मोपदेश दिया करते थे। बुधवार, १९ दिसम्बर को यह धर्मोपदेश क्षिति बाबू के अनुरोध पर गाँधी जी के द्वारा दिया गया था।

प्रार्थना के बीच उन्होंने देखा कि कुछ लड़के सीधे होकर नहीं बैठे हैं। कुछ लड़के फुसफुसा रहे हैं और कुछ उदासीन हैं। उन्होंने इसके लिए इनको भर्त्सना करते हुए कहा :

"इस संस्थान के लड़के और लड़कियों को अपने छोटे से छोटे कार्यों में शान्तिनिकेतन की छाप लगानी चाहिये।" उन्होंने आगे कहा : "युद्ध समाप्त हो गया है, पर पृथ्वी पर शांति स्थापित नहीं हुई है। इससे तो केवल यही हुआ है कि धुरी-राष्ट्रों की शक्ति पर मित्र-राष्ट्रों के शस्त्रों की विजय हो गयी है। संसार अशांति की ज्वाला में जल रहा है। यूरोप में आज लाखों-लाख लोग भुखमरी और जाड़े की सर्दी के कारण मृत्यु की भयंकर आशंका से ग्रस्त हैं। और, यहाँ पास में भी, अपने प्रदेश बंगाल की स्थिति कोई उससे अच्छी नहीं रही है। पीड़ाग्रस्त संसार को शांति का संदेश देना गुरुदेव का जीवन-लक्ष्य था। शांतिनिकेतन के छात्र-छात्राओं को शांति की स्थापना के निमित्त संघर्ष करते हुए शांति के प्रहरी बनकर संसार में निकल पड़ना चाहिये जिससे कि शांतिनिकेतन वस्तुतः शांति का आवास बनकर अपने नामको सार्थक कर सके। इसके लिए यह अपेक्षित है कि तुम्हारा ईश्वरमें सक्रिय विश्वास हो। संगमरमर का टुकड़ा मूर्तिकार की अनुभूति की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाता है। ठीक उसी प्रकार गुरुदेव की भावना तुममें सजीव रहे और तुम्हारे माध्यम से स्वयं को प्रचारित करे।"

मंदिर से गांधीजी मुकुल दे की शिल्पशाला और कला-वीथी देखने गए। दे ने भारतीय कला शैली की पाँच हज़ार से ऊपर दुर्लभ कलाकृतियाँ एकत्र की थीं जिनमें लगभग १५०० कलाकृतियाँ गगनेन्द्रनाथ की भी सम्मिलित थीं। इनमें से बहुत भी कलाकृतियों का निजी घरों और पुरानी चीज़ें बेचने वालों से उद्धार किया गया था जहाँ वे दीमकों का ग्रास बन रही थीं। उन्होंने गांधीजी को अपने कुछ ऐसे चित्र फलक दिखाए जिनपर उन्होंने अजंता की गुफ़ाओं के अमर भित्ति-चित्रों की अनुकृति कर ली थी। वहाँ इन चित्रों के काल और मौसम के साथ हो लापरवाही और अनभिज्ञ लोगों के हस्तक्षेप के कारण विनष्ट हो जाने का भय था। वे उन्हें कलकत्ता से उस समय ले आए थे जब वहाँ हवाई-हमलों का खतरा था। अब वे कलाकृतियाँ हमारे समक्ष एक विपुल संचय के रूप में प्रस्तुत थीं जिसके कारण उनकी नन्हीं-सी कुटिया कलाकृति-रूपी खजाने से युक्त बिल्कुल अलीबाबा की गुफ़ा के रूप में परिणत हो गयी थी। उनकी यह अभिलाषा थी कि वे कलाकृतियाँ राष्ट्र के द्वारा अर्जित कर ली जाँय और भारत की एक राष्ट्रीय कला-वीथी का मुख्य केन्द्र बनें।

समयाभाव के कारण गांधीजी चीन-भवन नहीं जा सके, जिसमें ५०,००० से ऊपर चीनी ग्रंथ सुरक्षित हैं। उनमें से अधिकांश चीन की राष्ट्रीय सरकार द्वारा प्रदत्त उपहार हैं। हमें बताया गया कि उनमें से कुछ जला दिये जाने अथवा युद्ध के दौरान विनष्ट कर दिये जाने के कारण अब चीन में भी सुलभ नहीं हैं। चीन-भवन के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर

तान युन-शान ने गांधीजी से कहा : "एक समय ऐसा था जबकि कुछ भारतीय बौद्ध-ग्रंथ केवल चीनी भाषा में ही सुलभ थे, मूल प्रतियाँ जो भारत में थीं, विलुप्त हो गयी थीं। अब यह प्रक्रिया उलट गयी है।"

गांधीजी नंदबाबू के कला भवन में आधे घंटे से अधिक समय न दे सके जहाँ नंदबाबू के कतिपय अत्युत्कृष्ट चित्रों के सम्मोहन ने उन्हें मंत्रमुग्ध कर लिया था। उन्हें उन विलक्षण खिलौनों को भी देखकर आनन्दातिरेक हुआ था जो अवनीबाबू के द्वारा अति तुच्छ उपादान-सामग्री से बनाए गए थे। उदाहरण के लिए, एक मुरझायी हुई टहनी को बिगड़ैल घोड़े पर सवार एक मदोन्मत्त कवि की मुद्रा में मोड़ दिया गया था। एक जीर्ण काष्ठखंड को अपने घोंसले में अंडे सेते हुए पक्षी का रूप दिया गया था ; तिनकों के टुकड़ों को सजीव टिड्डे के रूप में परिवर्तित कर दिया गया था। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो उनकी कला की कीमियागरी प्रायः प्रत्येक वस्तु को, चाहे वह व्यर्थ ही क्यों न हो, 'सुन्दर वस्तु, सदा आनन्ददायी' के रूप में परिवर्तित कर सकती है। गांधीजी यह जानकर दुखी हुए कि कलाकार स्वयं शैय्याग्रस्त होकर कलकत्ता में पड़े हुए हैं।

कलकत्ता लौटने पर गांधीजी ने मुझे एक व्यक्तिगत संक्षिप्त पत्र देकर अवनीबाबू के पास उनके स्वास्थ्य के विषय में पूछताछ करने और यह कहने के लिए भेजा कि भारत को अपनी और अनेक सुन्दर कलाकृतियाँ प्रदान करने के लिए वे अवश्य ही दीर्घजीवी हों। अवनीबाबू को भारतीय कला आन्दोलन में अद्वितीय स्थान प्राप्त है। उनकी कला का मुख्य लक्षण चित्रकला की पाश्चात्य शैली के यथार्थवाद से असम्पृक्त होकर भारतीय शैली का अंगीकार है, जो आत्माभिव्यक्ति पर बल देती है। वे मात्र बाह्य रूप के स्थान पर आत्मतत्त्व को ही व्याख्यायित करने का प्रयास करते हैं।

अवनीबाबू का स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। यहाँ तक कि अपने छज्जे से बैठक तक टहल कर जाने के श्रम से भी उनको साँस फूलने का दौरा पड़ने लगता था। उनकी दाढ़ी कई दिनों से, शायद हफ्तों से, नहीं बनी थी। पर उनकी नेत्र-ज्योति पहले से अधिक चटक थी। वे अपने प्रति गांधीजी के स्नेह और चिन्ता-भाव से अभिभूत थे। उन्होंने अतीत का सिंहावलोकन करते हुए स्मरण किया : "मैंने १९२१ में गांधीजी की एक प्रतिकृति तैयार की थी, जब वे गुरुदेव के आवास पर गुरुदेव से भेंट करने आए थे। परन्तु मैं महात्मा से प्रत्यक्ष रूप में कभी नहीं मिल पाया हूँ। मेरे जैसे व्यक्ति को यह सौभाग्य मिल भी कैसे सकता है? इसके लिए तो पुष्कल पुण्य की आवश्यकता है।" कुछ देर रुकने के बाद उन्होंने आगे कहा : "महात्मा जी के आगमन का भारत पर जो

प्रभाव हुआ है इसे बहुत कम लोग जानते हैं। उनके आने के पूर्व के भारत और आज के भारत में जो अंतर है वही उनके आगमन का प्रभाव है।" अपने इस कथन को उदाहृत करने के निमित्त उन्होंने अपनी उस चित्रत्रयी को मँगवाया जिसकी रचना उन्होंने १९२१ में की थी। वह एक ऐसे किशोर के क्रमागत नैतिक और आध्यात्मिक विकास के तीन सोपानों का चित्रण करती है, जो कलाकार की सेवा में रहा है। पहले चित्र में उसे गाँव से काम की तलाश में अभी-अभी आए हुए एक ऐसे ग्रामीण बालक के रूप में प्रदर्शित किया गया है जो गंदे और भद्दे वस्त्र पहिने हुए है, क्षुधा-पीड़ित एवं ज्वर जर्जरित है और जो चेहरे से निकृष्ट और बुद्धू लग रहा है। तभी असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ होता है। बालक समाचार-पत्र पढ़ने लगा है। उसके चेहरे पर बुद्धि का आलोक निखरता है। तीसरे चित्र में वह गांधी टोपी धारण किये पूरा खद्दरधारी बन गया है। उसके कंधे पर स्वयं सेवकों वाला तिरंगा बिल्ला लगा हुआ है और चेहरे पर स्वाभिमान की गौरवपूर्ण झलक है। वह स्वयं को आध्यात्मिक दृष्टि से कई इंच ऊँचा उठा हुआ अनुभव करता है। अवनी बाबू ने कहा : "वह अपने जैसे लाखों में से एक है। उसका यह इतिहास महात्मा जी के चर्खा और अहिंसा विषयक निर्वचन के प्रभावस्वरूप भारत की कायापलट की गाथा को प्रतिरूपित करता है। यही कारण है कि मैं महात्मा की पूजा करता हूं।"

उसी दिन दोपहर में गांधी जी ने दीनबंधु स्मृति चिकित्सालय का शिलान्यास संपन्न किया। इस अवसर पर उनके मस्तक पर मंगल-तिलक दो संथालों द्वारा लगाया गया था, जिनमें से एक महिला थीं। उसी अवसर पर गीतांजलि के इस गीत का गायन भी समान रूप से आनंददायी था—

> जेथाय थाके सबार अधम, दीनेर ह'ते दीन
> सेइखाने जे चरण तोमार राजे
> सबार पिछे, सबार नीचे
> सब हारादेर माझे।

अर्थात् जहाँ सबसे अधम दीन से भी दीन रहता है, वहीं तुम्हारे चरण सबसे पीछे, सबसे नीचे सब हाराओं के बीच विराजते हैं।

गांधी जी की अभ्युक्तियों से घोर विरक्ति का भाव प्रतिध्वनित हो उठा। चार्ली एण्ड्रयूज उनके लिए सहोदर भ्रातावत् थे। एण्ड्रयूज के द्वारा विपन्नों एवं पददलितों के उद्देश्य के अप्रतिहत समर्थन के प्रति कृतज्ञतापूर्ण ज्ञापन के रूप में भारत के लोगों ने उन्हें स्नेहपूर्वक

दीनबंधु की उपाधि दी थी। कोई भी ऐसी बात नहीं होती थी जिसमें दीनबंधु गांधीजी के साथ सम्मिलित न होते हों, पर तब भी गांधीजी उनके देहान्त पर शोकाकुल नहीं हुए :

"जीवन और मरण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वे एक दूसरे से पृथक नहीं हैं। वे एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न पक्ष हैं। परन्तु अपनी अज्ञानता के कारण हम एक का स्वागत करते हैं और दूसरे से कतराते हैं। यह गलत है। प्रियजनों की मृत्यु पर शोक प्रकट किये जाने की भूल हमारी स्वार्थपरता में निहित है, विशेषकर चार्ली एण्ड्रयूज जैसे प्रियजनों की मृत्यु पर जिन्होंने इतनी गरिमा के साथ अपने कर्त्तव्य का सम्यक् निर्वाह किया है। दीनबंधु दिवंगत हो जाने पर भी उतने ही पूज्य हैं जितने पहले थे। उनके जैसे महापुरुषों की मृत्यु दुखी होने की घड़ी नहीं है। इस सम्बन्ध में अपनी बात कहते हुए मैं कह सकता हूँ कि मैंने अपने मित्रों और प्रियजनों की मृत्यु पर दुखी होना प्रायः छोड़ दिया है और मैं चाहता हूं कि आप भी ऐसा ही करना सीखें।"

(३)

जब किसी संस्थान को अनाथ छोड़कर गुरुदेव जैसे किसी महत् एवं संरक्षक व्यक्ति का तिरोधान हो जाता है तब यह प्रश्न सदा उठता है कि कौन अथवा क्या उसका स्थान ग्रहण करे। समसामर्थ्यवान उत्तराधिकारी कभी-कभी भले ही मिल जाय। शांतिनिकेतन गुरुदेव की काव्यात्मक प्रेरणा की सृष्टि था। उसका निर्माण किसी निश्चित योजना के अनुसार नहीं किया गया था। वह तो क्रमशः विकसित हुआ है। जबतक गुरुदेव वहाँ रहे, उन्होंने विभिन्न विभागों और शांतिनिकेतन की गतिविधियों के बीच सक्रिय सम्बन्ध स्थापित किया। उनके सर्वातिशायी एवं समन्वयकारी व्यक्तित्व के माध्यम से सारे विभाग सहज सम्बद्ध हो गए थे। गांधीजी से पूछा गया कि गुरुदेव की उस प्रेरणाशक्ति को पुनरुज्जीवित करने के लिए क्या किया जा सकता है ?

उन्होंने उत्तर दिया कि गुरुदेव प्रमूर्ति को आज्ञानुसार निर्मित नहीं कराया जा सकता। इसलिए कोई अकेला व्यक्ति उनका स्थान नहीं ले सकेगा। परन्तु वे समवेत रूप में उनके आदर्श को निरूपित कर सकते हैं यदि उनमें से प्रत्येक व्यक्ति संस्थान को सर्व प्रमुख स्थान दे और अपने को अंतिम।

शामको विभिन्न विभागों के अध्यक्ष गांधीजी के समक्ष अपनी कठिनाइयाँ रखने और उस सम्बन्ध में उनका निर्देशन प्राप्त करने के लिए एक औपचारिक सभा में एकत्र हुए। गांधीजी ने उनसे कहा कि यदि निकेतन गुरुदेव के द्वारा प्रस्तुत आदर्शों को निरूपित कर पाने में असफल रहा है तो वे उनसे यह बताने में संकोच न करें। "मुझे कोरी स्लेट समझें।

अबतक मेरे पास कही-सुनी बातें ही हैं और कही-सुनी बातों का मेरे जीवन में बहुत कम महत्त्व है। मैं ठोस तथ्य चाहता हूँ। तथ्यों की पूरी जानकारी के बिना मैं आपकी अधिक सहायता न कर सकूँगा।"

अध्यक्षों को कुछ हिचकते हुए देखकर उन्होंने फिर कहना शुरू किया: "यह तो है नहीं कि आपको कुछ कहना ही न हो; क्योंकि इसका मतलब यह होगा कि निकेतन पूरी तरह से ठीक है जबकि संसार में कोई वस्तु पूर्ण और बिल्कुल ठीक नहीं होती। निकेतन की खामियों के विषय में मुझे निस्संकोच बताइये। अच्छी वस्तुएँ स्वयं अपना प्रमाण होती हैं, बुरी नहीं; मेरे लिए तो किसी भी स्थिति में नहीं।"

नंद बाबू ने चुप्पी तोड़ी। उनके विभाग में विद्यार्थियों की संख्या बराबर बढ़ती जा रहती थी। कलाभवन का प्रारम्भ एक चित्रशाला के रूप में हुआ था पर अब वह एक शिक्षण संस्थान हो गया था। शिक्षण और प्रबन्धकीय कार्य उनका बहुत समय ले लेते थे। परिणामस्वरूप कला-साधना को क्षति पहुँचती थी। मुख्य कठिनाई एक ऐसा उपयुक्त उत्तराधिकारी प्राप्त करने की थी जो अपने सहयोगियों की हार्दिक निष्ठा अर्जित कर सकने के साथ ही संस्थान की मूल भावना का योग्यतापूर्वक प्रतिनिधित्व भी कर सके।

और भी बहुत-सी कठिनाइयों का उल्लेख किया गया। रथी बाबू ने आर्थिक कठिनाइयों के विषय में बात की। क्षिति बाबू ने यह शिकायत की कि प्रशिक्षण हेतु वहाँ आए होनहार युवक अपने प्रशिक्षण की समाप्ति पर धन और मान प्राप्ति के प्रलोभन में वहाँ से चले जाते हैं। शांतिनिकेतन कहावत के उस कौवे के घोंसले के सदृश्य हो गया है जिसमें कोयल के अंडे सेए जाते हैं। अनिल बाबू ने शिकायत की कि विश्वभारती के विश्वविद्यालय-विभाग ने आश्रम को अव्यवस्थित कर दिया है। विभूतिभूषण गुप्त ने अनावासीय छात्रों के प्रवेश से उत्पन्न समस्या की चर्चा की। कृष्ण कृपालानी ने तो यह शिकायत करके सम्पूर्ण वर्ग की भावना को स्वर प्रदान किया कि वे वहाँ किसी जलपोत के कर्णधार विहीन नाविकगण की भाँति अनुभव करते हैं। "हमें इस बात का कोई स्पष्ट बोध नहीं कि हम कहाँ, किस ओर निरुद्देश्य भटक रहे हैं, और आखिर हम बनना क्या चाहते हैं?"

जब वे सब अपनी-अपनी बात कह चुके तब गांधीजी बोले: "आप लोगों ने बड़ी रुचि के साथ जो कुछ बताया उसका एक-एक शब्द मैं समझ गया हूँ और मुझे इससे बहुत कुछ ज्ञात भी हुआ है। जो कुछ कहा गया है, उस पर मैं विस्तारपूर्वक कहना, अथवा जो भाव इस क्षण मेरे अंतर्मन में उठ रहे हैं उन सबको व्यक्त करना, नहीं चाहता। मैं केवल एक-दो सामान्य बातें ही कहूँगा।

नंद बाबू और क्षिति बाबू जो कुछ कह रहे थे उसे सुनते समय मैंने अपने मन में कहा : 'यह एक वास्तविक कठिनाई है, पर एक ऐसी कठिनाई है तो हमारी अपनी खड़ी की हुई है। यदि कोई व्यक्ति किसी बड़े विभाग का संचालन करता है जो उससे यह आशा की जाती है कि वह जिन आदर्शों का प्रतिनिधित्व करता है उन्हें वह किसी ऐसे व्यक्ति को सम्प्रेषित करे जिसे उसका उत्तराधिकारी कहा जा सके। परन्तु उन दो अनुभवी व्यक्तियों की सबसे बड़ी शिकायत यह है कि वे अपने-अपने विभागों के लिए उपयुक्त उत्तराधिकारी प्राप्त करने में असमर्थ हैं। यह सही है कि इन विभागों का एक विशिष्ट स्वरूप है। मैं इन विभागों को जानता हूँ और मैं उनके विषय में गुरुदेव के जो विचार थे, उन्हें भी जानता हूं। सामान्यतः क्या मैं यह सुझाव दे सकता हूँ कि इसमें कोई कठिनाई की बात नहीं है, और जो है उसे तपश्चर्या के साहचर्य से दूर किया जा सकता है। 'तपश्चर्या' शब्द का अनुवाद प्रायः असंभव है। इसका निकटतम वास्तविक अर्थ कदाचित् 'अनन्य निष्ठा' है। परन्तु तपश्चर्या का अर्थ इससे बहुत व्यापक है। अपने नानाविध कार्य-कलापों के संदर्भ में जब कभी मुझे इस प्रकार की समस्या का सामना करना पड़ा है, इस अनन्य निष्ठा ने उसका समाधान ऐसे ढंग से कर दिया है जिसकी मुझे बहुत कम आशा थी। अभागे दक्षिणी अफ्रिका में, जहाँ निकृष्टतम कल्पनीय स्थितियों में मैंने अपने ईश्वर का साक्षात्कार किया, अपने २० वर्षों के सुदीर्घ प्रवास के दौरान मैंने यह बराबर अनुभव किया कि सही सहायक ऐन मौके पर प्रकट हो जाता है।

सुदीर्घ और श्रमसाध्य संघर्ष के उपरान्त मेरी यह दृढ़ धारणा बनी है कि एक शक्ति के रूप में गुरुदेव अपने कार्यों से बहुत बड़े थे; वे इस संस्था से भी बड़े थे जहाँ लौकिक राग-द्वेष से ऊपर उठकर उन्होंने गीतों का गायन किया। उन्होंने इस संस्थान में अपनी समस्त आत्मशक्ति उड़ेल दी और अपने जीवन-रक्त से इसे सम्बोधित किया। और तब भी मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि उनकी महानता इसके द्वारा अथवा इसके माध्यम से पूर्ण तरह व्यक्त नहीं हो पाई। कदाचित् ऐसे सभी महान् और उत्तम मनुष्यों के बारे में सत्य है कि वे अपने कार्यों से बड़े हुआ करते हैं। ऐसी स्थिति में, यदि आपको उस श्रेष्ठता अथवा महानता को निरूपित करना है जिसकी सिद्धि के लिए गुरुदेव प्रयत्नशील रहे, पर जिसे वे इस संस्थान के माध्यम से भी पूर्णतः निरूपित नहीं कर पाए, तो ऐसा आप केवल तपश्चर्या के माध्यम से कर सकते हैं।

तुलसीदास की रामायण में इस आशय की महत्त्वपूर्ण चौपाइयाँ मिलती हैं कि जो कार्य किसी अन्य साधन से सम्भव नहीं हो सकता वह तपश्चर्या से सम्भव हो जाता है। यह

उक्ति हिमालय की पुत्री, पार्वती, के संदर्भ में है। देवर्षि नारद ने यह भविष्यवाणी की थी कि पार्वती अपने जीवन-साथी के रूप में ऐसा वर प्राप्त करेगी जो औघड़, भस्मालेपित और घुमक्कड़ भगवान शंकर की तरह होगा। पर यदि वे लक्षण स्वयं भगवान शंकर के बजाय धूर्त के व्यक्तित्व में मिले तो पार्वती का जीवन बिगड़ जायगा। इस प्रकार की विप्रत्ति का निवारण कैसे किया जाय—यह एक समस्या थी। उल्लिखित चौपाइयों की रचना इसी संदर्भ में हुई है। मैं आपके सतर्क परिशीलन के लिए चौपाइयां संस्तुत करता हूँ। आप चौपाइयों को उनकी रूढ़िवादिता से पृथक कर पढ़ें।

बातचीत के दौरान आपने आर्थिक समस्या की चर्चा की थी। मैं आपसे यह साग्रह निवेदन करता हूँ कि आप 'अर्थ' शब्द को अपने मन से बिल्कुल निकाल दें। मुझे विश्वास है कि किसी निष्ठावान कार्यकर्त्ता के लिए 'अर्थ' कभी कोई वास्तविक कठिनाई उपस्थित नहीं करता। रुपया तो आपके पीछे लगा रहता है, वह आपके पदचिन्हों का अनुसरण करता है, यदि आप वस्तुतः महत्त्वपूर्ण उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं। यहां मुझे एक चेतावनी देनी है। हो सकता है कि कोई कार्यकर्त्ता पूर्ण योग्य हो और तब भी उसका उद्देश्य महत्त्वपूर्ण न हो। ऐसी स्थिति में विघ्न बना रहेगा। उसके प्रतीयमान अपवाद भी अवश्य हैं। संसार मूर्खों और सफल पाखंडियों से भरा पड़ा है। परन्तु जहां तक निष्ठावान स्त्री-पुरुषों की बात है, मुझे यह विश्वास है कि यदि उनका साध्य भी साधनवत् उचित और श्रेष्ठ है तो आर्थिक कठिनाई न तो कभी उनका मार्ग अवरुद्ध कर सकती है और न उनका उत्साह ही भंग कर सकती है। आपने एक बड़ी जिम्मेदारी हाथ में ली है और भविष्य में और भी बड़ी जिम्मेदारियां आपको संभालनी पड़ेगी। और तब यह प्रश्न फिर उठेगा : 'धन कहां से आए?' वैसी स्थिति में आपसे निवेदन करूँगा कि आप धन के लिए व्यर्थ चिन्तित न हों; और तब आप देखेंगे कि कठिनाई धनाभाव विषयक न होकर कहीं अन्यत्र है। उस कठिनाई का निवारण कर दीजिए, धन अपनी चिंता अपने आप ही कर लेगा।"

विभूतिभूषण गुप्त से गांधीजी ने कहा : "आपकी कठिनाई एक व्यापक कठिनाई है। आप एक साथ दो घोड़ों की सवारी नहीं कर सकते। यदि आप पूर्णकालिक छात्रों के साथ दिवा छात्रों को भी प्रवेश देते हैं तो स्वाभाविक है कि वे पूर्णकालिक छात्रों पर पूरी तरह छा जायँगे और उनके प्रशिक्षण की संभावना को खत्म कर देंगे। आपके संस्थान की परिकल्पना मिश्रित छात्रों के लिए नहीं की गयी थी।"

गांधीजी ने कहना जारी रखा कि विभूति बाबू के बाद कृष्णा कृपालानी ने कहा था कि वे लोग नहीं जानते कि उनका लक्ष्य क्या है अथवा वे किस आदर्श की सिद्धि के लिए

प्रयत्नशील हैं, और शांतिनिकेतन एवं श्रीनिकेतन—दोनों की कुल शक्तियों की सार्थकता क्या है ? "मेरा उत्तर यह है कि आपका आदर्श केवल बंगाल या कि भारत का प्रतिनिधित्व करना नहीं है, आपको सारे संसार का प्रतिनिधित्व करना है। गुरुदेव का भी यही आदर्श था। उन्होंने समग्र मानवता का प्रतिनिधित्व किया था। परन्तु उन्होंने जबतक भारत का उसकी लाखों-लाख अकिंचन और मूढ़ जनता सहित निरूपण नहीं कर लिया तब तक वे समग्र मानवता का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाए थे। आपकी भी यही आकांक्षा होनी चाहिये। जबतक आप भारत के जनमानस का प्रतिनिधित्व नहीं करेंगे तबतक आप मानव के रूप में गुरुदेव को प्रतिरूपित नहीं कर पाएँगे। आप गायक, चित्रकार, यहाँ तक कि महाकवि के रूप में भी उनकी प्रतिष्ठा भले ही कर लें, परन्तु इससे आप उनके सहज मानवीय रूप का उपस्थापन नहीं कर पाएँगे और ऐसी स्थिति में इतिहास यह कहेगा कि उनका यह संस्थान असफल रहा। मैं नहीं चाहता कि इतिहास यह निर्णय दे।"

रथी बाबू ने आग्रह किया था कि गांधीजी को शांतिनिकेतन में ठहरने के लिये हर वर्ष अपेक्षाकृत अधिक समय नियत करना चाहिये। इस पर गांधीजी ने कहा : मैं सहमत हूँ। यदि मुझे अपने इस दावे की सार्थकता पूरी तरह प्रमाणित करनी है कि मैं आप में से ही एक हूँ तो मुझे अवश्य ही अधिक समय तक आपके बीच रहना चाहिये। मैं सहर्ष ऐसा करूँगा। परन्तु मेरी भावी व्यवस्थाएँ ईश्वराधीन हैं।"

(४)

अगले दिन जब गांधी ने विभिन्न विभागों के कर्मचारियों, अधिकारियों और अध्यापकों की एक बैठक की तब चर्चा फिर शुरू की गयी। गांधीजी ने उनसे कहा : "मैं आपके ही मुख से यह सुनना चाहता हूँ कि ऐसा क्या है जो आपको यहाँ रहने के लिए प्रेरित करता है और वे कठिनाइयाँ क्या हैं जो आपके सामने उपस्थित हैं।" यह कहने के साथ ही गांधीजी ने उनसे प्रश्न आमंत्रित किये। चूँकि उनमें से कुछ लोग हिन्दुस्तानी अच्छी तरह नहीं जानते थे, या बिल्कुल ही नहीं जानते थे गांधीजी ने उनके प्रश्नों के उत्तर अंग्रेजी में दिये। पर उन्होंने उन लोगों को आगाह कर दिया था कि अगली बार जब वे उनसे मिलेंगे तब उन्हें हिन्दुस्तानी में ही बात करनी होगी। उस समय वह किसी भी कीमत पर हिन्दुस्तानी छोड़ किसी दूसरी भाषा में बात नहीं करेंगे। प्रश्न और उत्तर यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

प्रश्न : "क्या शान्तिनिकेतन में राजनीतिक कार्यों में प्रवृत्त होने की अनुमति मिलनी चाहिये ?

उत्तर : मुझे यह कहने में कोई कठिनाई नहीं है कि शान्तिनिकेतन एवं विश्वभारती को

राजनीति में कदापि नहीं फँसना चाहिये। प्रत्येक संस्थान की अपनी सीमाएँ होती हैं। इस संस्थान को भी अपनी सीमाओं में रहना चाहिये अन्यथा यह महत्त्वहीन हो जायगा। जब मैं यह कहता हूँ कि शांतिनिकेतन को राजनीति में नहीं फँसना चाहिये तो इससे मेरा आशय यह नहीं है कि उसका कोई राजनीतिक आदर्श हो न हो। इसका राजनीतिक आदर्श 'पूर्ण स्वतंत्रता' होना चाहिये, जैसे कि यह देश का राजनीतिक आदर्श है। परन्तु प्रस्तुत आदर्श की भी सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि शान्तिनिकेतन वर्तमान राजनीतिक हलचल से दूर रहे। मुझसे यह प्रश्न तब भी पूछा गया था जब तीस वर्ष पहले मैं यहाँ आया था और उस समय इसका जो उत्तर मैंने दिया था वह वही था जो आज मैंने दिया है। तथ्य तो यह है कि आज मेरा उक्त अभिमत अधिक प्रभावी ढंग से लागू किया जा सकता है।"

प्रश्न : "क्या विश्वभारती को वास्तव में एक अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये हमें विश्वविद्यालय के भौतिक साधनों में अभिवृद्धि नहीं करनी चाहिये और क्या सारे देश से असाधारण प्रतिभासंपन्न विद्वानों एवं शोधार्थियों को यहाँ आकृष्ट करने के लिए अधिक सुख सुविधाओं और जीवन के सामान्य सुखों की व्यवस्था नहीं करनी चाहिये ?"

उत्तर : "मेरा अनुमान है कि भौतिक साधनों से आपका तात्पर्य आर्थिक साधनों से है। यदि मेरा अनुमान सही है, तो मुझे यह कहना है कि आपका उक्त प्रश्न एक ऐसे व्यक्ति से पूछा गया है जो भौतिक साधन-संपन्नता में कतई विश्वास नहीं करता। 'भौतिक-साधन' तो अंततः एक तुलना-सापेक्ष्य पद है, उसकी सीमाएँ तुलना द्वारा स्पष्ट की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, मैं खाने-कपड़े के बिना नहीं रह सकता। मैंने अपने ढंग से भारत के औसत आदमी की भौतिक संपन्नता के स्तर को ऊँचा उठाने की कोशिश की है, और शायद दूसरे लोगों से अधिक ही की है। परन्तु मेरी यह निश्चित धारणा है कि यदि विश्वभारती भौतिक संपन्नता अथवा प्रदत्त भौतिक आकर्षणों पर निर्भर करती है तो वह विद्वानों और उपयुक्त प्रतिभाओं को आकृष्ट करने में असफल रहेगी। विश्वभारती का आकर्षण तो अवश्य ही नैतिक अथवा आचारिक होना चाहिये, नहीं तो वह भी भारत की अन्य तमाम शैक्षिक संस्थाओं की तरह होकर रह जायगी। यह वह उद्देश्य, वह आदर्श नहीं है जिसकी सिद्धि के लिए गुरुदेव जीवित रहे और जिसके लिए वे अंततः मर-मिटे। इससे मेरा आशय यह नहीं है कि शांतिनिकेतन के कर्मचारियों और अध्यापकों को भौतिक सुख-सुविधाएँ दी ही नहीं जानी चाहिये। पर यहाँ तो पर्याप्त सुख-सुविधाएँ पहले से ही मिली हुई दिखाई देती हैं। यदि मैं यहाँ अधिक समय तक रहूँ और अपना रास्ता अपनाऊँ तो इनमें भी

कटौती हो सकती है। जैसे जैसे विश्वभारती विकसित होती जाती है और अधिकाधिक उपहार एवं दान उसे मिलते जाते हैं वैसे-वैसे, यदि वह चाहेगी तो भविष्य में वह विद्वानों और शोध कर्त्ताओं को अधिक सुविधाएँ प्रदान करने में समर्थ हो सकेगी। पर यदि मुझसे राय माँगी गयी तो मैं कहूँगा : 'इस प्रलोभन के वशीभूत न हो जाओ।" विश्वभारती को अपना आधार नैतिक समुन्नयन ही बनाना चाहिये। यदि इसे वह अपने आधार रूप में ग्रहण नहीं करती तो उसका कोई महत्त्व नहीं।"

प्रश्न : "संस्थान के उदात्त नैतिक प्रभाव का ह्रास न हो, इसके लिए क्या किया जाना चाहिये ? आप किस उपाय की राय देते हैं ?"

उत्तर : "आप में से प्रत्येक को नैतिक गुण का महत्त्व समझना चाहिये। भौतिक गुण से भिन्न नैतिक गुण का आधार नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था है। भौतिक गुण लक्ष्मी-पूजा की ओर अग्रसर करता है। जंगली जानवर से जो वस्तु मनुष्य को पृथक कर देती है वह नैतिक गुण का स्वीकार ही है। अर्थात्, जिस व्यक्ति में जितना अधिक नैतिक गुण होगा वह उतने ही अधिक सम्मान का पात्र होगा। यदि आप इस आदर्श में विश्वास रखते हैं तो आपको स्वयं अपने से यह पूछना चाहिये कि आप यहाँ क्यों हैं और क्या कर रहे हैं, यह नहीं कि आपको कितना वेतन मिल रहा है अथवा कौन-कौन सी भौतिक सुख-सुविधाएँ मिल रही हैं।"

यह ठीक है कि प्रत्येक कर्मचारी को स्वयं अपने और अपने आश्रितों के लिए खाना-कपड़ा अवश्य चाहिये। पर आप विश्वभारती के अंग केवल इसलिए नहीं हैं कि विश्वभारती आपके लिए अन्न, वस्त्र और दैनिक सुविधाएँ जुटाती हैं। आप इसके अंग इसलिए हैं कि आप इसके अंग बने रहने के अतिरिक्त और कुछ कर नहीं सकते, और इसलिए भी हैं कि इसके आदर्शों की सिद्धि के लिए कार्य करने से आपकी नैतिक शक्ति दिनोंदिन विकसित और परिवर्द्धित होती है। अतएव, उभर कर सामने आनेवाले प्रत्येक दोष, विश्वभारती के कार्य-संचालन में बाधा पहुँचानेवाली प्रत्येक कठिनाई का सूत्र अंततः आपके नैतिक गुण विषयक दृष्टिकोण के ही किसी दोष में निहित मिलेगा। मैं गत ६० वर्षों से अनेक संस्थाओं से सम्बद्ध रहा हूँ और मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उन लोगों के कार्य-संचालन में उत्पन्न होनेवाली कठिनाई नैतिक मूल्यों को ठीक से न समझ पाने के कारण ही उत्पन्न हुई थी।"

प्रश्न : "हम गाँववालों की सेवा करने का यत्न कर रहे हैं। इस क्रम में हमें यह अनुभव होता है कि गाँव के सामाजिक परिवेश के कारण हमारी क्रियाशीलता, हमारा प्रयास

हर कदम पर अवरुद्ध हो जाता है। वहाँ की निरानन्द जीवनचर्या, जड़ता और गर्हित सामाजिक रूढ़ियों का भारी बोझ—ये सब हमारे प्रयास में विघ्न उपस्थित करते हैं। इसके पूर्व कि हम अपने दूसरे कामों में सफलता की आशा करें, क्या हमें गाँव की इन बुराइयों को जड़-मूल से नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील नहीं होना चाहिये? और यदि होना चाहिये तो इसे कैसे किया जा सकता है?"

उत्तर: "जब से मैं भारत आया हूँ, मैंने अनुभव किया है कि राजनीतिक क्रांति अर्थात् अंग्रेजी राज के अधीन अपनी वर्तमान परतंत्रता की समाप्ति की अपेक्षा सामाजिक क्रांति लाना कहीं अधिक कठिन है। कुछ ऐसे लोग हैं जो हमसे यह कहते हैं कि भारत *सामाजिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के पहले राजनीतिक और आर्थिक मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।* मैं इस प्रकार के कथन को हमें हैरान और परेशान करने के लिए जाल बिछाना कहता हूँ। मेरा तो यह अनुभव है कि राजनीतिक स्वतंत्रता का अभाव सामाजिक एवं आर्थिक स्वातन्त्र्य लाने के हमारे प्रयत्नों में भी गतिरोध उत्पन्न करता है। साथ ही, यह भी सच है, कि सामाजिक क्रांति के बिना हम भारत को पहले से अधिक खुशहाल नहीं बना सकेंगे। लेकिन सामाजिक क्रांति के लिए मैं आपको कोई सरल मार्ग नहीं बता सकता सिवाय इसके कि हम अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह क्रांति लाएँ।

कुछ देशों में सामाजिक क्रांति लाने के लिए शक्ति का प्रयोग किया गया है। मैंने अपने विचार-विवेचन से उसे सोद्देश्य निकाल दिया है। आपको मेरी यह सलाह है: पुनः पुनः प्रयत्न कीजिये और कभी मत कहिये कि आप असफल हो गए हैं। आप अधीर होकर यह न कहें कि लोग अच्छे नहीं हैं; इसके बजाय आप यह कहें कि मैं अच्छा नहीं हूँ। यदि आप के द्वारा निर्धारित समय तक लोग आपकी बात नहीं मान लेते तो यह आपकी असफलता है, उनकी नहीं। यह काम कभी-कभी अप्रशंसित और श्रमसाध्य लग सकता है। पर आप अपने कार्य के लिए प्रशंसा की अपेक्षा ही न करें। जो कार्य प्रेमभाव से किया जाता है वह बोझ नहीं लगता, वह तो विशुद्ध आनंद है।"

प्रश्न: "वेतन-प्रणाली का सूत्रपात किसी आश्रम को ऊँचा उठाता है या गिराता है?"

उत्तर: "मुझे यह कहने में कोई कठिनाई नहीं है कि चाहे आपको एक निश्चित वेतन मिले चाहे आपके सब खर्चों के लिए भुगतान कर दिया जाय, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। दोनों पद्धतियाँ प्रयुक्त करके देखी जा सकती हैं। जिस खतरे के विरुद्ध आपको चौकसी बरतना है वह यह है: यदि आप किसी व्यक्ति को उसके बाजार-मूल्य के हिसाब से रुपया देते हैं तो आप आश्रम की भावना का निर्वाह नहीं करते। यदि प्रतिभाशाली और योग्य

व्यक्ति भी हमसे अपना बाज़ार-मूल्य ही माँगे, तो हमें उनके बिना ही अपना काम चला लेना चाहिये, चाहे वे परमोच्च कोटि के प्रतिभावान और विद्वान क्यों न हों। दूसरे शब्दों में, हमें तबतक प्रतीक्षा करनी चाहिये जबतक प्रतिभाएँ रुपए-पैसे के कारण नहीं, अपितु किसी दूसरी ही वस्तु के कारण, जिसके लिए यह संस्थान प्रयत्नशील है, संस्थान की ओर स्वयं आकृष्ट न हों। इसके अतिरिक्त, आपका 'आवश्यकता के अनुसार' वाला सिद्धान्त भी आपको बाज़ार-मूल्य से आगे न ले जाय। यह कोई शिकायत की बात नहीं है कि विश्वभारती में वेतन-प्रणाली है। जिन कठिनाइयों की चर्चा आपने की है उनका निवारण केवल ऊपरी जोड़-गाँठ से नहीं किया जा सकता। आपको उन दोषों के मूल कारणों को खोज निकालना और दूर करना चाहिये जिनके विषय में आप सोच रहे हैं।"

प्रश्न : "नवयुवकों में जो लगन की कमी अथवा उदासीनता की प्रवृत्ति दिखाई देती है उसके रहते हम कैसे प्रगति कर सकते हैं?"

उत्तर : "जब आप मुझसे यह प्रश्न पूछते हैं तब मुझे निराशा की एक लम्बी साँस लेनी पड़ती है। जब आप यह देखते है कि आपके शिष्यों में निष्ठा अथवा लगन की कमी है तो आपको स्वयं अपने से कहना चाहिये : 'मैं निष्ठाहीन हूँ'। मुझे स्वयं अपने अनुभवक्रम में बार-बार इस तथ्य का साक्षात्कार हुआ है और प्रत्येक बार यह साक्षात्कार मेरे लिए एक स्फूर्ति दायक स्नान के सदृश्य रहा है। बाइबिल की यह उक्ति कि 'अपने पड़ोसी की आँख की किरकिरी पर उँगली उठाने के पहले तू अपनी आँख की शहतीर दूर कर ले' वास्तव में गुरु-शिष्य के संदर्भ में कहीं अधिक उपयुक्त है। शिष्य आपके पास अपने से बहुत अच्छी कुछ चीज़ प्राप्त करने के लिए आता है। ऐसी स्थिति में यह शिकायत करने के बजाय कि 'हा! उसमें निष्ठा नहीं है, लगन नहीं है, मैं कैसे उसमें निष्ठा उत्पन्न कर सकता हूँ', यह कहीं अच्छा होगा कि आप अपने पद से त्यागपत्र दे दें।"

प्रश्न : "गुरुदेव की बौद्धिक परम्परा का निर्वाह यहाँ प्रायः ठीक ही हो रहा है, पर मुझे भय है कि जिस आदर्शवाद की प्रतिष्ठा के लिए वे आजीवन संघर्ष रत रहे उसे विकसित होने का पूरा अवसर यहाँ नहीं मिल रहा है। जिस संस्था का हाल यह हो इसमें अवश्य ही कोई खामी है। इसका उपचार क्या है? और फिर, क्या हमारा संस्थान आम जनता को ही संस्कृत बनाने का कार्य करे?—आपका सिद्धान्त तो यही है। परन्तु क्या कोई ऐसा स्थान भी नहीं होना चाहिये जहाँ संस्कृत लोगों के लिए उच्च संस्कृति सुरक्षित रखी जा सके?—और यह आदर्श गुरुदेव का था। इस प्रकार का संस्थान अनिवार्यतः कुछ विशिष्ट और चुने

हुए लोगों के लिए ही होगा। मैं आपके और गुरुदेव—दोनों के सिद्धान्तों का अनुयायी हूँ परन्तु दोनों के सिद्धान्तों के पारस्परिक विरोध में उलझ गया हूँ।"

उत्तर: दूसरे प्रश्न को पहले लेता हूँ। यह गुरुदेव और स्वयं मुझ पर, दोनों पर, आक्षेप है। मुझे दोनों के बीच कोई वास्तविक विरोध नहीं दिखाई देता। मैंने गुरुदेव और अपने बीच विरोध की स्थिति पकड़ने की प्रवृत्ति अपनायी थी परन्तु अन्त में इस सुखद निष्कर्ष पर पहुँचा कि हमारे बीच कोई विरोध ही नहीं है।

जहाँ तक आपके पहले प्रश्न का सम्बन्ध है, जो कुछ मैं कह सकता हूँ वह यह है कि यह धारणा कि 'मैं तो सही हूँ, संस्था में ही कोई दोष है' आपके आत्म-दंभ को ही प्रकट करती है। यह घातक बन जाती है। जब आप अपने अंतर्मन में यह अनुभव करें कि आप तो सही हैं और आप के चतुर्दिक प्रत्येक वस्तु सदोष है, तो आपको अपने आप उससे जो निष्कर्ष निकालना चाहिये वह यह है कि बाकी सब कुछ ठीक है, आप ही में कहीं कोई दोष है।

गांधीजी ने इस बैठक के लिए आधे घंटे का समय नियत किया था। वे उठने की तैयारी कर ही रहे थे कि इंदिरा देवी ने एक अंतिम प्रश्न पूछ लिया: "क्या यहाँ बहुत अधिक नृत्य गान नहीं होता? क्या यहाँ के स्वर-संगीत में जीवन-संगीत के विलीन हो जाने का भय नहीं है?"

परन्तु तब गांधीजी के पास उनके प्रश्न का उत्तर देने के लिए पर्याप्त समय नहीं रह गया था। यद्यपि वे शांतिनिकेतन में अधिक समय तक ठहरना चाहते थे तथापि जिस उद्देश्य से वे बंगाल आए थे वह अंततः उन्हें कलकत्ता ले ही गया। उन्होंने अनिच्छापूर्वक विदा ली और मोटर में बैठ गए, जो उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। परन्तु उनका चिन्तन बाद में भी चलता रहा। और, कलकत्ता पहुँचकर उन्होंने एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने इन्दिरा देवी के प्रश्न के उत्तर के साथ ही कुछ और प्रश्नों के उत्तर भी लिख भेजे जो उनसे यहाँ पूछे गए थे पर समयाभाव के कारण जिनका उत्तर वे यहाँ नहीं दे पाए थे:

"मैं विश्वविद्यालयीय परीक्षाओं के लिए छात्र-छात्राओं को तैयार करना पसन्द नहीं करता। विश्वभारती तो एक विशिष्ट और स्वयंसिद्ध विश्वविद्यालय है। उसे किसी सरकार के मान्यता-पत्र की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। पर आप विद्यार्थियों को विश्वभारती की उपाधियाँ देने के साथ ही साथ उन्हें मान्यताप्राप्त विश्वविद्यालय की तरह तैयार भी कर रहे हैं। आपको तो एक उच्च आदर्श की सिद्धि के लिये जीना है और उस पर अमल करना है। विश्वविद्यालयीय उपाधियाँ तो एक प्रलोभन हैं जिनके चंगुल में आपको नहीं फँसना चाहिये। जिस मानसिक दौर्बल्य की छूट गुरुदेव ने खुलेआम दे रखी थी वह छूट उनकी अनुपस्थिति में विश्वभारती नहीं दे सकती। इस छूट की शुरुआत

यहाँ परम्परागत मेट्रीकुलेशन परीक्षा के सूत्रपात के साथ हुई थी। मैं उस समय भी इससे सहमत नहीं हो सकता था और आज भी मैं यह नहीं जानता कि हमें इससे क्या मिला है। इस समय मैं असहमति प्रकट करने के भाव से उसपर कतई विचार नहीं कर रहा हूँ। सम्प्रति तो मैं इसके लिए आतुर हूँ कि शांतिनिकेतन उस परमोच्च आदर्श की प्रतिष्ठा करे जिसके लिए गुरुदेव सतत् प्रयत्नशील रहे।

शांतिनिकेतन का संगीत मनोहारी अवश्य है, परन्तु क्या वहाँ के संगीताचार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि बंगाली संगीत ही संगीतों में सर्वश्रेष्ठ है? क्या हिन्दुस्तानी संगीत अर्थात् मुस्लिम काल के पूर्व और पश्चात् के संगीत, के पास संगीत-जगत् को देने के लिए कुछ है? यदि है, तो शांतिनिकेतन में उसे उसका उचित स्थान मिलना चाहिये। वास्तव में, मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि पाश्चात्य संगीत, जिसका बहुत विकास हो चुका है, का भी भारतीय संगीत के साथ समन्वय किया जाना चाहिये। विश्वभारती को तो एक अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय समझा जाता है। वैसे, मेरा यह मत एक अविज्ञ व्यक्ति का प्रासंगिक विचार मात्र है, जिसे वहाँ के संगीत-शिक्षक तक पहुँचा भर देना है।

मुझे एक शंका यह है कि शायद वहाँ जीवन के लिए उचित संगीत की अपेक्षा अधिक संगीत है; इस विचार को दूसरे शब्दों में यों रखा जा सकता है कि वहाँ के स्वर-संगीत में जीवन-संगीत के विलीन हो जाने का भय है। मैं पूछता हूँ, कि हमारे चलने फिरने में, हमारी गति में, हमारी प्रत्येक गतिविधि एवं हमारे प्रत्येक कार्य कलाप में संगीत क्यों नहीं है? मैंने मंदिर में प्रार्थना के समय लड़के-लड़कियों को अव्यवस्थित ढंग से बैठे देख कर जो बात कही थी, वह कोई निरर्थक टिप्पणी थी? मैं समझता हूँ कि हमारे लड़के लड़कियों को यह जानना चाहिये कि वे टहलें कैसे, चलें कैसे, बैठें कैसे, खाएं कैसे, संक्षेप में, जीवन का प्रत्येक कार्य कैसे करें। संगीत के विषय में मेरी यही अवधारणा है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, गुरुदेव ने अपने व्यक्तित्व में इन सबको समाविष्ट करने का प्रयत्न किया था।

गाँवों का सच्चा पुनर्निर्माण तब तक नहीं होगा जबतक कि आप उसका आरम्भ बुनियादी हस्त-शिल्प, अर्थात् हाथ से कताई-बुनाई, से नहीं करेंगे। हाथ की कताई-बुनाई के बिना बुनकर-कला निर्जीव है। आप जानते हैं कि मैंने गुरुदेव से इसके लिए आग्रह किया था। पहले तो मेरा आग्रह निष्फल रहा, लेकिन बाद में उन्होंने मेरे अभिप्राय पर गौर करना शुरू कर दिया था। यदि आप समझते हैं कि कताई-बुनाई के मामले में मैंने गुरुदेव के विचारों को सही रूप में समझा है तो आप शांतिनिकेतन को चरखों की संगीतात्मक ध्वनियों से गुंजायमान बनाने में आगा-पीछा नहीं करेंगे। [अनु०—प्रेमकान्त टंडन]

महात्मा गान्धी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर[1]

भारतवर्ष की समस्त एक भौगलिक मूर्ति है। इसके पूर्वप्रान्त से पश्चिम प्रान्त तक तथा उत्तर में हिमालय से दक्षिण में कन्या कुमारी तक जो एक सम्पूर्णता विद्यमान है, प्राचीन समय में इस चित्र को हृदयंगम करने की इच्छा देश में थी, ऐसा दिखता है। किसी समय, देश के मन से जो विभिन्न कालों में विभिन्न स्थानों में विच्छिन्न हो पड़ा था, उसे संग्रह कर, एक देखने की चेष्टा महाभारत में खूब स्पष्ट रूप से जाग्रत देखता हूँ। उसी प्रकार भारतवर्ष के भौगलिक स्वरूप को हृदय बीच उपलब्ध करने का अनुष्ठान तीर्थ भ्रमण था। देश के पूर्वतम अंचल से पश्चिमतम अंचल तक तथा हिमालय तक सर्वत्र इसके पवित्र पीठस्थान हैं, जहाँ तीर्थ ने स्थापित होकर भक्ति के ऐक्यजाल में समस्त भारतवर्ष को मन के भीतर लाने की सहज उपाय सृष्टि की है।

भारतवर्ष एक बृहत् देश है। इसे सम्पूर्ण रूप से मन के भीतर ग्रहण करना प्राचीनकाल में संभव नहीं था। आज सर्वेक्षण द्वारा, मानचित्र बनाकर, भूगोल विवरण ग्रथितकर भारतवर्ष की जिस धारणा को मन में लाना सहज हुआ है, प्राचीन समय में वह नहीं था। एक प्रकार से वह अच्छा ही था। सहज रूप में जो मिल जाता है—मन के भीतर गहरे रूप में वह अंकित नहीं होता। कृच्छ साधन कर भारत परिक्रमा द्वारा जो जानकारी प्राप्त होती है वह अत्यन्त गहरी होती है तथा मन से सहज ही दूर नहीं होती।

महाभारत के बीच गीता प्राचीन काल के उस समन्वय तत्त्व को उज्ज्वल बनाती है। कुरुक्षेत्र के केन्द्रस्थल में यह जो थोड़ी दार्शनिक चर्चा है इसे, काव्य की ओर से असंगत कहा जा सकता है; ऐसा भी कहा जा सकता है कि मूल महाभारत में यह नहीं था। बाद में जिन्होंने प्रक्षिप्त किया वे जानते थे कि उदार काव्य परिधि के बीच भारत की निम्नभूमि के मध्य में इस तत्त्व कथा की अवतारणा का प्रयोजन था। सम्पूर्ण भारतवर्ष को अन्तर-बाहर से उपलब्ध करने का प्रयास धर्मानुष्ठानों के अंतर्गत ही था। महाभारत पाठ हमारे देश में धर्म-कर्म के बीच श्रेय माना गया, वह मात्र तत्त्व की ओर से ही नहीं देश की उपलब्धि करने के लिए भी इसकी आवश्यकता है। और, तीर्थयात्री भी लगातार घूमते हुए देश को स्पर्श करते अत्यन्त अंतरंग भाव से क्रमशः इसके ऐक्यरूप को मन के भीतर ग्रहण करने की चेष्टा करते रहे हैं।

---

१. महात्माजी की अड़सठवीं वर्षगांठ के अवसर पर दिया गया भाषण।

यह पुराने समय की बात हुई।

पुराने समय का परिवर्तन हुआ है। आज देशवासी अपने प्रादेशिक कोने के भीतर संकीर्णता के बीच आबद्ध रहते हैं। संसार और लोकाचार के जाल में हम जकड़े हुए हैं, लेकिन महाभारत के प्रशस्त क्षेत्र में मुक्ति की हवा है। इस महाकाव्य के विराट प्राङ्गण में मनस्तत्त्व की कितनी ही परीक्षाएँ हैं। साधारणतः हम जिसे निन्दनीय कहते हैं, वह भी यहाँ स्थान पाए हुए है। यदि हमारा मन प्रस्तुत है, तब अपराध, दोष सब कुछ अतिक्रम कर महाभारत की वाणी उपलब्ध की जा सकती है। महाभारत में एक उदात्त शिक्षा है, वह नकारात्मक नहीं, सकारात्मक है—अर्थात् उसमें एक 'स्वीकृति' है। बड़े-बड़े वीर पुरुष जो अपने माहात्म्य के गौरव से उन्नत शीर्ष हैं उनमें भी दोष-त्रुटि है, किन्तु उन सब दोष-त्रुटियों को आत्मसात् कर ही वे बड़े हुए हैं। मनुष्य को यथार्थ रूप से विचार करने की यह प्रकाण्ड शिक्षा हम महाभारत से पाते हैं।

पाश्चात्य संस्कृति के साथ योग होने के बाद और भी कुछ चिन्तनीय प्रश्न आ गए हैं, जो पहले नहीं थे। प्राचीन काल में, भारत में देखता हूँ स्वभाव या कार्य से जो पृथक थे उन्हें अलग श्रेणी में विभक्त कर दिया गया। तथापि खंडित करने पर भी ऐक्य साधन की प्रचेष्टा थी। सहसा पश्चिम का सिंहद्वार भेद कर शत्रु का आगमन हुआ। उसी पथ से आकर एक दिन आर्यों ने पंचनदी के तीर पर उपनिवेश स्थापित किया था और उसके बाद विन्ध्याचल अतिक्रमण कर धीरे-धीरे समस्त भारतवर्ष में अपने को परिव्याप्त कर लिया। भारत उस समय गान्धार आदि पड़ोसी प्रदेशों के साथ एक समग्र संस्कृति में परिवेष्ठित रहने के कारण, बाहरी आघात से बचा रहा। उसके बाद एक दिन बाहर से संघात आया। वह संघात विदेशी था ; उनकी संस्कृति पृथक थी। जब वे लोग आये तब मालूम पड़ा कि हमलोग एकत्र थे, लेकिन एक नहीं हुए थे। इसी कारण सारे भारतवर्ष में विदेशी आक्रमण की बाढ़ आ गई। तदुपरान्त हमलोगों के दिन दुःख और अपमान की ग्लानि में कट रहे हैं। किसीने विदेशी आक्रमण की आड़ लेकर एक दूसरे के साथ युक्त होकर अपना प्रभाव विस्तार किया, किसी ने खण्ड-खण्ड जगहों में विशृंखल रूप से अपनी स्वातंत्र्य-रक्षा के लिए विदेशियों को बाधा देने की चेष्टा की। किसी प्रकार भी वे सफलीभूत नहीं हो सके। राजपुताना, महाराष्ट्र, बंगाल में युद्ध-विग्रह बहुत दिनों तक शान्त नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि जितना बड़ा देश है ठीक उसके समानान्तर एकता नहीं। बहुत शताब्दियों बाद, दुर्भाग्य झेलकर हमने जानकारी प्राप्त की। विदेशी आक्रमण का मार्ग इन्हीं अनैक्य की सुविधाओं से प्रशस्त हुआ। निकट के शत्रु के उपरान्त बहुतों के साथ,

विदेशी शत्रु समुद्र पार करके अपनी वाणिज्य नौका के साथ आ पहुंचे ; पुर्तगाली, डच, फ्रांसिसी, अंग्रेज सब आये। सबने आकर पूरी शक्ति के साथ हमला किया : देखा कि ऐसा कोई देश नहीं— जो दुर्लंध्य हो। हम अपनी सम्पदा ; अपना सम्बल सब देने लगे, हमारी विद्या-बुद्धि में क्षीणता आई, मन की ओर से भी सम्बल हीन और रिक्त हो गए। इस प्रकार बाहर की निःस्वता भीतर भी निःस्वता लाती है।

ऐसे दुःसमय में हमारे साधक पुरुषों के मन में जो चिन्ता उदित हुई वह है परमार्थ की ओर लक्ष्य कर भारत की स्वतंत्रता को उद्बोधित करने की आध्यात्मिक प्रचेष्टा। तब से हमारा सम्पूर्ण मन पारमार्थिक पुण्य उपार्जन की ओर गया है। हमारी पार्थिव सम्पदा वहां नहीं पहुँची जहां यथार्थ रूप में दैन्य और शिक्षा का अभाव है। पारमार्थिक संबल के लोभ से जो पार्थिव संबल हम खर्च करते हैं वह महन्त और पंडों के गर्व से फूले हुए जठरों में चला जाता है। इससे भारत को क्षय छोड़—वृद्धि नहीं हो रही है।

विपुल भारतवर्ष के विराट् जनसमाज के बीच और एक श्रेणी के लोग हैं जो जप-तप-ध्यान-धारणा के लिए मनुष्य का परित्याग करके दारिद्र्य और दुःख के हाथों संसार को छोड़कर चले जाते हैं। इन असंख्य उदासीन मण्डली, मुक्तिकामियों को जिन्होंने अन्न जुटाकर दिया है, उनकी दृष्टि में ये मोहग्रस्त संसारासक्त हैं। एकबार किसी गाँव में इसी प्रकार के एक संन्यासी से मेरी भेंट हुई थी। मैंने उनसे कहा 'गांव में दुराचारी, दुःखी और पीड़ाग्रस्त हैं, इनके लिए आपलोग कुछ क्यों नहीं करते?' मेरे इस प्रश्न से वे विस्मित और अप्रसन्न हुए, कहने लगे "क्या, जो सांसारिक मोहग्रस्त आदमी हैं, उनके लिए मुझे चिन्ता करनी होगी मैं एक साधक हूँ, विशुद्ध आनन्द के लिए संसार त्याग कर आया हूँ, फिर उसी जंजाल में अपने को डाल दूँ।" यह बात जिन्होंने कही थी उन्हें एवं उन्हीं के समान संसार से अन्य वीतरागी उदासीन लोगों को बुलाकर पूछने की इच्छा होती है कि उनके चिकने-चुपड़े, मोटे-ताजे कान्तियुक्त शरीर की परिपुष्टि हेतु किन्होंने साधन जुटाए? जिन्हें वे पापी और हेय कहकर त्याग आये हैं, उन्हीं सांसारिक लोगों ने उनके लिए अन्न जुटाए हैं। परलोक की ओर निरंतर दृष्टि रखने के कारण शक्ति का कितना अपव्यय हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता। अनेक शताब्दियों से भारत की यही दुर्बलता चली आ रही है। इसका जो दण्ड है, इहलोक के विधाता ने वह दण्ड हमें दिया है। उन्होंने हमें आदेश दे भेजा है, सेवा द्वारा, त्याग द्वारा इस संसार के लिए उपयोगी बनना होगा। उस आदेश की अवमानना की है, अतः दण्ड तो भोगना ही होगा।

हाल में, यूरोप में स्वातंत्र्य प्रतिष्ठा की चेष्टा चल रही है। किसी समय इटली ने विदेशी

कंगुल में धिक्कारपूर्ण जीवन बिताया था ; उसके बाद इटली के त्यागी वीर मेजिनि और गैरिवाल्डी ने विदेशी अधीनता के जाल से मुक्त करके अपने देश को स्वतंत्रता दी थी। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी देखता हूं इसी स्वातंत्र्य रक्षा के लिए कितना दुःख, कितनी चेष्टाएं और कितने संग्राम हुए। मनुष्यों को मनुष्योचित अधिकार देने के लिए पाश्चात्य देश के कितने ही लोगों ने अपनी बलि चढ़ा दी। विभागों की सृष्टि कर जो प्रताड़ना की जाती है, उसके विरुद्ध पश्चिम में आज भी विद्रोह हो रहा है। उन देशों में जनसाधारण—सर्वसाधारण मानव गौरव के अधिकारी हैं, इसलिए राष्ट्र के समस्त अधिकार सर्वसाधारण के बीच परिव्याप्त हैं। उन देशों के कानून में धनी-दरिद्र, ब्राह्मण-शूद्र आदि का भेद नहीं है। एकताबद्ध होकर स्वातंत्र्य प्रतिष्ठा की शिक्षा हमलोगों ने पाश्चात्य इतिहास से पाई है। समस्त भारतवासी जिससे अपने देश का स्वयं नियंत्रण कर पाने का अधिकार पायें—यह इच्छा हमें पश्चिम से मिली है। इतने दिनों तक हम अपने गांवों और पड़ोसियों को लेकर अलग-अलग, छोटी-मोटी संकीर्ण परिधि के भीतर काम करते रहे और सोचते-विचारते रहे। गांव में तालाब और मंदिर की प्रतिष्ठा कर अपने को सार्थक मानते रहे और उसी गांव को हम जन्मभूमि या मातृभूमि कहते रहे। भारत को मातृभूमि रूप से स्वीकार करने का अवकाश नहीं मिला। जब हम प्रान्तीयता के जाल में आबद्ध और दुर्बलता से अभिभूत हुए पड़े थे तब रानाडे, सुरेन्द्रनाथ, गोखले आदि प्रमुख महान व्यक्ति जनसाधारण को गौरव प्रदान करने आये। उनके द्वारा आरंभ की गई साधना को प्रबल शक्ति और द्रुत वेग से चमत्कारपूर्ण सिद्धि के पथ पर ले गए, उन्हीं महात्मा की कथा का स्मरण करने आज हम यहां एकत्रित हुए हैं—वे महात्मा गांधी हैं।

बहुत से लोग यह पूछ सकते हैं, क्या ये ही पहल-पहल आए हैं? इसके पूर्व कांग्रेस में क्या और भी बहुतों ने काम नहीं किया? काम किया है, यह सत्य है; किन्तु उन नामों को लेते ही देखते हैं कि उनका साहस कितना म्लान था, उनकी ध्वनि कितनी क्षीण थी।

पहले दिनों में कांग्रेसी लोग नौकरशाही के पास कभी तो आवेदन-निवेदनों की डाली ले जाते, तो कभी लाल-लाल आंखें दिखलाने का मिथ्या प्रदर्शन करते। उन्होंने सोचा था, कभी तीक्ष्ण और कभी सुमधुर वाक्यवाण छोड़कर वे मेजिनि और गैरिवाल्डी के समगोत्रीय बन जायेंगे। उस क्षीण अवास्तव शौर्य को लेकर आज हमारे पास गर्व करने योग्य कुछ भी नहीं। आज जो आये हैं, वे राष्ट्रीय स्वार्थ के कलुष से मुक्त हैं। राष्ट्रीयता के अनेक पाप और दोषों में से एक बहुत बड़ा दोष है—स्वार्थान्वेषण। राष्ट्रीय स्वार्थ चाहे जितना बड़ा स्वार्थ क्यों न हो, फिर भी स्वार्थ की पंकिलता उसमें आये बिना नहीं रहती।

'नेता' नामक एक वर्ग है, उनका आदर्श बड़े आदर्शों के साथ नहीं मिलता। वे अनगिनत झूठ बोल सकते हैं, वे इतने हिंसक हैं कि अपने देश को स्वाधीनता देने के बहाने दूसरे देशों के पर अधिकार करने का लोभ-संवरण त्याग नहीं पा रहे हैं। पाश्चात्य देशों में, देखते हैं, उन्होंने एक ओर अपने देश के लिए प्राण दिया तो दूसरी ओर देश की दुहाई दे दुर्नीति को प्रश्रय दिया है।

एक दिन पाश्चात्य देशों ने जिस मूसल को जन्म दिया, आज उसी की शक्ति यूरोप के सिर पर सवार है। आज जो स्थिति है, उससे सन्देह होता है, आज के बाद कल यूरोपीय सभ्यता टिकेगी भी या नहीं। वे जिसे 'पेट्रियाटिज्म' कह रहे हैं—वह 'पेट्रियाटिज्म' अन्त में उन्हीं को मार डालेगी। वे जब मरेंगे, तब अवश्य ही हमारे समान निर्जीव भाव से नहीं मरेंगे, भयंकर अग्नि उत्पादित कर भीषण प्रलय में जल मरेंगे।

हममें भी असत्य आया है; जो नेतावर्ग के हैं, उन्होंने दलबन्दी का विष फैलाया है। आज इस राजनीति के कारण ही छात्र-छात्राओं में भी दलबन्दी के विष ने प्रवेश किया है। नेता लोग कामकाजी हैं, वे समझते हैं कार्यसिद्धि के लिए मिथ्यात्व की आवश्यकता है। लेकिन विधाता के विधान में वह छल चातुर्य पकड़ा जायगा। नेताओं की, इन सब चतुर विषयी लोगों की हम प्रशंसा कर सकते हैं लेकिन (उनकी) भक्ति नहीं कर सकते। भक्ति कर सकते हैं—महात्मा की, जिनकी साधना सत्य की है। उन्होंने मिथ्या के साथ मिश्रित होकर सत्य की सार्वभौमिक धर्मनीति को अस्वीकार नहीं किया है। भारत की युगसाधना में यह एक परम सौभाग्य का विषय है। ये ही एकमात्र व्यक्ति हैं जिन्होंने सभी स्थितियों में सत्य को स्वीकारा है, उसमें तात्कालिक सुविधा हो अथवा न हो; उनका यह दृष्टान्त हमारे लिए महान दृष्टान्त है। विश्व में, स्वाधीनता एवं स्वातंत्र्य लाभ का इतिहास रक्तधारा से पंकिल है, अपहरण और दस्युवृत्ति द्वारा कलंकित है। किन्तु परस्पर का हनन न कर, हत्याकाण्ड का आश्रय न लेकर भी स्वाधीनता प्राप्त की जा सकती है, उन्होंने अपनी यह राह दिखाई है। लोगों ने अपहरण किया, विज्ञान ने देश के नाम पर दस्युवृत्ति की। देश के नाम पर उनका यह गौरव, यह गर्व स्थायी न होगा। हमलोगों में से ऐसे व्यक्ति बहुत ही थोड़े हैं, जो हिंसक वृत्ति को मन से दूर कर देख सकते हैं। इस हिंसक प्रवृत्ति को स्वीकार किये बिना भी हम जयी होंगे, यह बात क्या हमलोग मानते हैं? महात्मा यदि वीरपुरुष होते अथवा लड़ाई करते तो आज हम इस भाँति उनका स्मरण नहीं करते। क्योंकि लड़ाइयाँ लड़ने वाले वीरपुरुष तथा बड़े-बड़े सेनापति पृथ्वी पर बहुत जन्मे हैं। मनुष्य का युद्ध धर्मयुद्ध, नैतिक युद्ध है। धर्मयुद्ध में भी निष्ठुरता है, वह गीता और महाभारत में हमने देखा है। उसमें बाहुबल का स्थान है या नहीं—इस प्रश्न के लिए

शास्त्रों के तर्क नहीं उपस्थित करूंगा। किन्तु यह जो अनुशासन है—मरूंगा फिर भी मारूंगा नहीं—और इसी प्रकार जयी होऊंगा—यह एक बहुत बड़ी बात है, एक मंत्र है। यह चातुरी अथवा कार्योद्धार विषयक परामर्श नहीं। धर्मयुद्ध बाहर जीतने के लिए नहीं, हारकर भी विजय प्राप्त करने के लिए है। धर्मयुद्ध में मरणोपरान्त जो शेष रहता है—हार से निकलकर जीत होती है, मृत्यु के उपरान्त अमृत है। जिन्होंने इस तथ्य को जीवन में उपलब्ध कर स्वीकार किया है, उनकी बात मानने के लिए हम बाध्य हैं।

इसके मूल में एक शिक्षा का स्रोत है। यूरोप में हमलोगों को स्वाधीनता की कल्मषता और स्वदेशीपन का विषाक्त रूप देखने को मिलता है। अवश्य ही प्रारंभ में उन्हें बहुत ही फल प्राप्त हुए, अनेक ऐश्वर्य लाभ हुआ। उस पाश्चात्त्य देश में ईसाई धर्म को मात्र मौखिक रूप में ग्रहण किया गया है। ईसाई धर्म में मानव-प्रेम के बहुत उदाहरण हैं; भगवान ने मनुष्य बनकर मनुष्य के शरीर में जितने दुःख, पाप हैं—सब अपने शरीर में धारणकर मनुष्यों को बचाया है—इसी मर्त्य में, परलोक में नहीं। जो सर्वाधिक दरिद्र हैं, उन्हें वस्त्र देना होगा, जो निरन्न हैं—उन्हें अन्न देना होगा—ये बातें ईसाई धर्म में जितनी स्पष्टता से व्यक्त हैं—वैसी अन्यत्र कहीं नहीं।

महात्मा जी एक ऐसे ही ईसाई साधक से मिल पाये थे, जिनकी निरंतर चेष्टा थी कि मानव को न्यायोचित अधिकार से बाधामुक्त किया जाय। सौभाग्यवश उसी यूरोपीय ऋषि टाल्सटाय के निकट महात्मा गान्धी ने ईसाई धर्म की अहिंसा नीति की वाणी को यथार्थ रूप से प्राप्त किया। दूसरे सौभाग्य का विषय है कि यह वाणी एक ऐसे व्यक्ति की है जिन्होंने संसार की बहुत सी विचित्र जानकारियों के फलस्वरूप इस अहिंसक नीति के तत्त्व की उद्भावना अपने चरित्र में की। मिशनरी अथवा व्यावसायिक प्रचारकों के पास मानव प्रेम की रटी-रटाई बोली उन्हें सुननी नहीं पड़ी। ईसाई वाणी का यह एक महत्त्वपूर्ण अवदान पाने की अपेक्षा हमें थी। मध्ययुग में मुसलमानों के पास से भी हमलोगों ने दान पाया है। दादू, कबीर, रज्जब आदि साधु प्रचार कर गए हैं—जो निर्मल, जो मुक्त, जो आत्मा की श्रेष्ठ सामग्री है—वह रुद्धद्वार मन्दिर में कृत्रिम अधिकारी विशेष के लिए पहरा देने की नहीं; वह निर्बन्ध रूप से सर्वमानव की सम्पदा है। युग-युग में ऐसा ही घटित होता है। जो महापुरुष हैं वे समस्त पृथ्वी के अवदान को अपने माहात्म्य द्वारा ही ग्रहण करते हैं, और ग्रहण कर उसे सत्य रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। अपने माहात्म्य द्वारा ही राजा पृथु ने रत्न आहरण के लिए पृथ्वी का दोहन किया था। जो श्रेष्ठ महापुरुष हैं, वे सारे धर्म, इतिहास और नीति से पृथ्वी के श्रेष्ठ दान को ग्रहण करते हैं।

महात्मा गान्धी और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का पत्र-व्यवहार

पुलिन बिहारी सेन

आगे हम गान्धीजी और गुरुदेव के बीच हुए पत्राचार से कुछ चुने हुए पत्र प्रकाशित कर रहे हैं। दोनों के बीच पत्राचार सन् १९१३-१४ में प्रारंभ हुआ और १९४० तक चलता रहा। सम्पूर्ण पत्रावली पुस्तक रूप में शीघ्र ही विश्वभारती की ओरसे प्रकाशित होगी।

जब गान्धीजी ने यह अनुभव किया कि दक्षिण अफ्रीका में उनका कार्य समाप्त हो गया है तो १९१५ में वे भारत लौट आए। उनके फिनिक्स आश्रम के सदस्य उनके भारत पहुँचने के पहले ही आपहुँचे थे। गान्धीजी के सामने उनके आवास की व्यवस्था का प्रश्न था, वे चाहते थे कि सब सदस्य इकट्ठे रहें और फिनिक्स में उनकी जो दिनचर्या थी उसका वे पालन कर सकें। श्री सी० एफ० एण्ड्रयूज़ ने पहले तो उनके निवास की व्यवस्था गुरुकुल कांगड़ी में की, और बाद में शान्तिनिकेतन आश्रम में। यह पत्र उसी समय लिखा गया था :

डा० जी० तेन्दुलकर ने अपनी कृति 'महात्मा'-१ में रवीन्द्रनाथ के गान्धीजी को लिखे इससे भी पहले के (१९१३ ई० के) एक पत्र की चर्चा की है जिसमें उन्होंने दक्षिण आफ्रिका में गांधीजी के संघर्ष की चर्चा करते हुए कहा था कि "वह मनुष्यत्व की सीधी चढ़ाई है, हिंसा के रक्तरंजित मार्ग द्वारा नहीं किन्तु गौरवमय धैर्य तथा वीरोचित स्व-त्याग के द्वारा।"

१९१४

'प्रिय श्री गांधी,

मुझे इस बात से सचमुच बहुत प्रसन्नता हुई कि आपने मेरे विद्यालय को एक ऐसा उपयुक्त और संभावित स्थान समझा जहाँ आपके फिनिक्स स्कूल के लड़के, जब वे भारत में आवें, आश्रय ले सकें। और मेरी यह प्रसन्नता तब और बढ़ गयी जब मैंने उस स्थान पर उन प्यारे बच्चों को देखा। हम सभी ऐसा महसूस करते हैं कि हमारे लड़कों पर उनका प्रभाव बहुत मूल्यवान् होगा और मुझे आशा है कि दूसरी ओर वे भी कुछ लाभ पा सकेंगे जिससे शान्तिनिकेतन में उनका प्रवास फलदायक सिद्ध होगा। मैं यह पत्र आपको

धन्यवाद देने के लिए लिख रहा हूँ कि आपने अपने बच्चों को हमारे भी बच्चे बनने का अवसर दिया; और इस तरह हम दोनों के जीवन की साधना के बीच एक जीवन्त कड़ी बनने का अवसर दिया।

आपका अत्यंत सच्चाईपूर्वक
रवीन्द्रनाथ ठाकुर।'

मार्च-अप्रेल १९१९ में गांधीजी ने कुछ कानूनों के विरुद्ध सविनय अवज्ञा प्रदर्शन के माध्यम से सत्याग्रह आन्दोलन संगठित किया, ६ अप्रेल को पूरे देश में रॉलट विधेयक के विरोध में हड़ताल रखने की घोषणा की गई। महात्मा गांधी को आश्चर्यजनक समर्थन मिला, किन्तु सर्वत्र लोग उतने शांत और अहिंसानुयायी नहीं रहे जितनी गांधीजी ने उनसे आशा की थी।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने महात्मा गांधी को १२ अप्रेल को भेजे एक खुले पत्र में उनको 'मनुष्यों का महान् नेता' बताया और उनके सिद्धान्तों की तुलना महात्मा बुद्ध के उपदेशों से की तथा यह भी संकेत किया कि गांधीजी द्वारा संचालित 'सद् की सहायता से असद् के विरुद्ध संघर्ष' "वीरों के लिए है, सामयिक चेतनाओं द्वारा उत्तेजित व्यक्तियों के लिए नहीं है। एक पक्ष की बुराई स्वाभाविक रूप से दूसरी ओर बुराई पैदा करती है, अन्याय हिंसा की ओर ले जाता है और अपमान प्रतिशोध की ओर।"

शान्तिनिकेतन
अप्रेल १२, १९१९

'प्रिय महात्माजी,

शक्ति अपने सभी रूपों में विवेकहीन है, वह आँख पर पट्टी बँधे गाड़ी खींचते हुए घोड़े के समान है। इसमें नैतिकता का प्रतिनिधित्व केवल उस व्यक्ति में ही होता है जो घोड़े को हाँकता है। शान्तिपूर्ण सत्याग्रह वह शक्ति है जो अपने आप में अनिवार्यतः नीतिनिरपेक्ष नहीं है, इसका उपयोग सत्य के विरुद्ध तथा उसके पक्ष में भी किया जा सकता है। सब तरह की शक्तियों में निहित खतरा तब और भी दृढ़ हो जाता है जब उसके सफल होने की संभावना हो क्योंकि तब वह लोभ बन जाता है।

मुझे मालूम है कि आपका उपदेश अच्छाई के बलपर बुराई से युद्ध करना है। किन्तु ऐसी लड़ाई वीरों के लिए है, न कि उन लोगों के लिए जो क्षणिक उत्तेजनाओं द्वारा प्रेरित होते हैं। बुराई एक ओर तो स्वभावतः बुराई पैदा करती है और दूसरी ओर उन अन्यायों, को जो

हिंसा की ओर लेजाते हैं तथा अपमान का जो प्रतिशोध चाहता है। दुर्भाग्यवश इस तरह की शक्ति का जन्म पहले से ही हो चुका है और या तो भय या क्रोध के कारण हमारे प्रशासन ने हमारे साथ ऐसी सख्ती बरती है कि उसका निश्चित परिणाम यह हुआ कि हममें से कुछ में भीतर ही भीतर क्रोध की ज्वाला धधकी है और अन्य लोगों में हिम्मतपस्ती आई है।

इस संकट में आपने मानवजाति के एक महान् नेता की तरह उस आदर्श में अपने विश्वास की घोषणा की है जिसे आप जानते हैं कि वह भारत का है, वह आदर्श जो किये हुए प्रतिशोध की कामना तथा आतंक के फलस्वरूप जन्मी निरीह समर्पण की भावना के विरुद्ध है। आपने वही बात कही है जो भगवान बुद्ध ने अपने समय में कही और जो हरकाल के लिए लागू होती है।

'अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिणे।'

अर्थात् क्रोध को अक्रोध की शक्ति से जीतो और बुराई को अच्छाई की शक्ति से।

अच्छाई की इस शक्ति को अपनी निर्भयता से अपने सत्य और अपनी ताकत को सिद्ध करना होगा; उस दबाव को अस्वीकार करना होगा जिसकी सफलता आतंकित करने की शक्ति पर निर्भर करती है और जिसे अपने विध्वंशकारी उपायों से पूरी तरह से निःशस्त्र जनता में आतंक फैलाने में हिचक नहीं। हमें यह मालूम होना चाहिये कि नैतिक विजय सफलता में नहीं है, और असफलता से उसकी गरिमा और मूल्य नष्ट नहीं होते। जिन्हें आध्यात्मिक जीवन में विश्वास है वे जानते हैं कि ग़लत बात के विरोध में खड़े होना ही, चाहे उसके पीछे कितनी ही अधिक भौतिक शक्ति क्यों न हों, अपने आप में विजय है, और यह अपनी हार के बावजूद भी आदर्श के प्रति सक्रिय विश्वास की विजय है।

मैं ने सदा अनुभव किया है और बराबर कहा है कि किसी राष्ट्र को स्वतंत्रता का महान् उपहार कभी भी दान में नहीं मिल सकता। उसे प्राप्त करने के लिए हमें उसे जीतना होगा। और भारत को उसे जीतने का अवसर तब आयेगा जब वह सिद्ध कर देगा कि नैतिक दृष्टि से वह उन लोगों से श्रेष्ठ है जो अपने विजयाधिकार के फलस्वरूप उस पर शासन कर रहे हैं। कष्ट सहने के तप को स्वीकार करने के लिए उसे सहर्ष तैयार रहना चाहिए, वह पीड़ा जो महान् व्यक्तियों का ताज है। अच्छाई में पूर्ण विश्वास से युक्त होकर उसे उस दम्भ के सम्मुख तन कर खड़े हो जाना चाहिए जो आत्मा की शक्ति का उपहास करता है।

और आप अपनी मातृभूमि में, उसकी आवश्यकता की घड़ी में, उसे उसके लक्ष्य का स्मरण कराने, विजय के सच्चे मार्ग पर उसे ले जाने, वर्तमान राजनीति को उसकी दुर्बलता से मुक्त करने पहुँचे हैं, यह राजनीति कल्पना करती है कि उसने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया है जब उसे कूटनीतिक बेईमानी के शाही तरीकों से कुछ सफलता मिली हो।

इसलिए मैं हार्दिक प्रार्थना करता हूँ कि आपके संघर्ष में कोई ऐसी बात सम्मिलित न हो जाय जो हमारी आध्यात्मिक स्वतंत्रता को दुर्बल कर दे, और सत्य के लिए बलिदान कोरे बालबाल के दुराग्रह में पतित न हो जाये, तथा आत्मप्रवंचना में परिणत न होजावे जो पवित्र नामों के पीछे अपने को छिपाए रहती है।

भूमिका के रूप में इन थोड़े से शब्दों के पश्चात् आपके शुभ काम में कवि के योगदान के रूप में मेरी नीचे की पंक्तियाँ स्वीकार कीजिए :—

१

मुझे इस विश्वास में अपना सिर ऊँचा उठाने दो कि तुम हमारे आश्रय हो ;
कि समस्त भय तुम्हारे प्रति जघन्य अविश्वास है।
मानव का भय ? किन्तु संसार में वह कौन सा व्यक्ति है,
वह कौनसा राजा है, हे राजाधिराज ! जो तुम्हारा प्रतिद्वन्दी है,
जिसने मुझे प्रतिक्षण तथा पूर्ण सत्य के साथ जकड़ रखा है।
इस संसार में ऐसी कौनसी शक्ति है जो मुझसे
मेरी स्वतंत्रता छीन सकती है ? क्या तुम्हारी बाहें
कारागृह के प्राचीरों को भेदकर बंदी तक उसकी
आत्मा को पूर्णरूप से मुक्त करने के लिए नहीं पहुँचती ?
और क्या मृत्यु के भयसे मैं उस शरीर से चिपका रहूँ
जैसे कि कोई कृपण अपने जड़ खजाने से,
क्या मेरी यह आत्मा शाश्वत जीवन के लिए शाश्वत
आह्वान पर नहीं तड़पी है ?
मुझे यह ज्ञान दो कि सब पीड़ाएँ और मृत्यु क्षणभरकी
छायाएँ हैं ; कि तेरे सत्य और मेरे बीच फैली अंधी शक्ति
सूर्योदय के पूर्व का कुहासा मात्र है ; तुम ही सदैव के लिए मेरे
अपने हो और शक्ति के उस दर्प से महानतम हो जो
अपने खतरे से मेरे मनुष्यत्व का उपहास करने का
साहस करती है।

२

यह मेरी प्रार्थना है, मुझे प्रेम की चरम शक्ति दो,
तेरी इच्छा के अनुसार बोलने, कार्य करने,
कष्ट सहने की, सब कुछ त्यागने या
अकेले छोड़दिए जाने की शक्ति दो।
मुझे प्रेम का चरम विश्वास दो यही मेरी प्रार्थना है,
मृत्यु में जीवन का विश्वास, पराजय में विजय का,
सौंदर्य की सुकुमारता में छिपीशक्ति का, और पीड़ा की
गरिमा का जो आघात स्वीकार करती है, किन्तु
जो प्रतिशोध से घृणा करती है।

आपका सच्चाईपूर्वक,
रवीन्द्रनाथ ठाकुर।'

महात्मा जी के जीवनी लेखक तेन्दूलकर ने लिखा है कि गान्धीजी भी गुरुदेव के समान ही चिन्ता कर रहे थे। उन्होंने स्वीकार किया कि जनता को नागरिक अवज्ञा आन्दोलन करने के लिए आह्वान करने में उन्होंने हिमालय जैसी बड़ी भूल की। इसके पूर्व, उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें जनता को सत्याग्रह का सिद्धान्त भली भाँति हृदयङ्गम कराना चाहिए था। १८ अप्रैल को महात्माजी ने आंदोलन सामयिक रूप से बंद कर दिया। किन्तु उन्होंने यह कहा कि जनता द्वारा की गई हिंसा के लिए सत्याग्रह को न तो उत्तरदायी ठहराया जा सकता है और न उससे हिंसा को प्रोत्साहन मिला। इसके विपरीत सत्याग्रह ने पहले से विद्यमान गैरकानूनी तत्त्वों को रोकने में सहायता की है, भले ही उसका प्रभाव थोड़ा रहा हो।

आगे दो संक्षिप्त पत्र यह दिखाने के लिए दिए जा रहे हैं कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गान्धी के बीच महत्त्वपूर्ण विषयों पर मतभेद था। यह सर्वविदित है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर महात्मा जी की 'गतिशील आत्मिक शक्ति' और 'अनवरत आत्मत्याग' के प्रशंसक थे किन्तु उनके द्वारा संचालित 'असहयोग आन्दोलन, चर्खे पर उनके विचारों तथा बिहार के भूकंप के कारणों के संबंध में प्रकट किए विचारों का गुरुदेव समर्थन नहीं कर सके। इन विषयों पर खुला विवाद चला। किन्तु उसके होते हुए भी उनमें परस्पर एक दूसरे के

प्रति सद्भाव में कमी नहीं आई, वह बढ़ता ही गया। अंत में महात्मा जी ने इस महत्त्वपूर्ण खोज के साथ कि 'हमारे बीच वास्तविक मतभेद नहीं है' कह कर विवाद को समाप्त किया।

इन दो पत्रों का ठीक-समय ज्ञात नहीं हो सका, किन्तु यह उल्लेख किया जा सकता है कि १९२५ के प्रारंभ में आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय ने चर्खा में विश्वास न होने के कारण रवीन्द्रनाथ की आलोचना की थी। इस प्रसंग में रवीन्द्रनाथ ने एक निबंध में अपने विचार प्रकट किए थे और यह स्पष्ट किया था कि क्यों वे महात्मा गांधी के चर्खा विषयक विचारों को स्वीकार नहीं करते। संभव है नीचे दिए पत्र का उसी प्रसंग से संबंध हो।

शान्तिनिकेतन
बंगाल, भारत
२७ दिसम्बर, १९२५

'प्रिय महात्मा जी,

मैंने आपका वह पत्र देखा है जो आपने शास्त्री महाशय को लिखा है। पत्र आपकी सदाशयता से परिपूर्ण है। आपको विश्वास-दिलाता हूँ कि अगर आपने कभी भी, जिसे आप सत्य मानते हैं उसके लिये मेरी कड़ी आलोचना भी की तो उससे हमारे वैयक्तिक सम्बन्धों पर, जो पारस्परिक आदर की भावना पर आधृत हैं, कोई आँच नहीं आयेगी, वे उस तनाव को सह सकेंगे।

नमस्कार पूर्वक,
रवीन्द्रनाथ ठाकुर'

'प्रिय गुरुदेव,

मैं आपके मधुर पत्र के लिये आभारी हूँ। इससे मुझे बड़ी राहत मिली।

साबरमती
३. १. २६.

आपका सच्चाईपूर्वक,
मो० क० गांधी'

१९२९ में महात्मा जी की शिष्या कुमारी स्लेड, जो मीरा बहन के नाम से सुपरिचित हैं, शान्तिनिकेतन आई थीं। उनको लिखे पत्र में रवीन्द्रनाथ ने यह समझाया कि गांधी और रवीन्द्रनाथ मानव जीवन के दो पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और दोनों एक दूसरे के पूरक हैं ; कवि के शब्दों में 'महात्मा जी तपस्या के पैगम्बर हैं और मैं आनन्द का कवि हूँ'। पूरा पत्र नीचे दिया जा रहा है—

शान्तिनिकेतन
१९ जनवरी, १९२९।

प्रिय मीरादेवी,

मुझे यह देखकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि इस आश्रम के छोटे से प्रवास में आप शान्तिनिकेतन की अन्तर्भावना से अनुप्राणित हुईं। मानव जीवन के दो पहलू हैं—पहला सत्यानुशासन और दूसरा है—अभिव्यक्ति की पूर्णता। साबरमती उस सत्यानुशासन का प्रतिनिधित्व करता है; क्योंकि महात्माजी विशुद्ध सत्य को लेकर पैदा हुए, इनका उसके साथ आत्मसात् हो गया है। एक कवि होने के नाते मेरा उद्देश्य जीवन-स्फूर्ति को अभिव्यक्ति देना है। मैं समझता हूँ कि शान्तिनिकेतन अपने सभी कार्य कलापों में उस आदर्श को साधे रखता है। हमारे नेताओं में (कम से कम बंगाल में) सत्य की कमी, हमारे राजनीतिज्ञों द्वारा आत्म-प्रकाशन, और इसी प्रकार पिछली कांग्रेस में असत्य का बुरी तरह अप्रतिष्ठाजनक प्रदर्शन हुआ है। महात्माजी के आश्रम में उनके उद्देश्य ने जो स्वरूप ग्रहण किया है उससे उसकी महत्ता पर प्रकाश पड़ता है। उसके साथ ही आवश्यकता है बुद्धि-वैभव की, जीवन-ज्योति को, अस्तित्व की आनन्दमयी चेतना की और सृजनात्मक प्रयासों में उसकी अभिव्यक्तियों की जो केवल हमें विस्मृति के गर्त में जाने से बचाती है। उपनिषद् के अनुसार तपस्या और आनन्द के पारस्परिक विरोध के बीच का सामंजस्य ही सृजन के मूल में है और महात्माजी तपस्या के अन्तर्द्रष्टा हैं और मैं आनन्द का कवि हूँ।

आपका सच्चाईपूर्वक
रवीन्द्रनाथ ठाकुर'

१९३१ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने जीवन के ७० वर्ष पूरे किए। इस अवसर पर 'द० गोल्डन बुक आफ टैगोर' नामसे उनको एक अभिनन्दन ग्रंथ समर्पित किया गया था जिसमें संसार के अनेक देशों से उनके मित्रों, प्रशंसकों ने लेख, संदेश भेजे थे। महात्माजी इस ग्रंथ के संयोजकों में से एक थे। ग्रंथ के संपादक रामानंद चैटर्जी को गुरुदेव के साथ अपने व्यक्तिगत संबंधों की चर्चा करते हुए लिए था:

'प्रिय रामानन्द बाबू,

'द गोल्डन बुक आफ टैगोर' (टैगोर की स्वर्णिम पुस्तक) के लिए यह मेरा योगदान है।

हजारों देश वासियों के साथ मैं भी अपने को उसका ऋणी मानता हूँ जिसने अपनी काव्य-प्रतिभा और जीवन की अन्यतम् शुचिता से भारत को विश्व की दृष्टि में ऊँचा उठाया है;

किन्तु मैं इससे भी अधिक ऋणी हूँ। क्या इन्होंने शान्तिनिकेतन में हमारे आश्रम में रहने वाले लोगों को जो मेरे दक्षिण अफ्रिका से आने से पूर्व वहाँ गये, आश्रय नहीं दिया? अन्य सम्बन्ध और स्मृतियाँ इतनी अधिक पुनीत हैं कि उन्हें सार्वजनिक श्रद्धाञ्जलि के रूप में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

शिमला
२१. ७. ३१

आपका सच्चाईपूर्वक
मो० क० गांधी'

जनवरी १९३२ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने, जो महात्मा गांधी के नेतृत्व में कार्य कर रही थी, सरकार की दमन नीति का विरोध करने के लिए नागरिक अवज्ञा आन्दोलन छेड़ दिया और महात्माजी को यरवदा जेल में रोक दिया। महादेव देसाई के शब्दों में "उनकी गिरफ्तारी के कुछ क्षण बाद' प्रातःकाल चार बजे महात्मा गांधी ने रवीन्द्रनाथ को नीचे लिखा पत्र लिखवाया :

कम्बलेम् रोड
बम्बई
३ जनवरी, १९३२

'प्रिय गुरुदेव,
अभी मैं अपने थके अंगों को चटाई पर फैला रहा हूँ और जैसे ही नींद की एक झपकी लेने की कोशिश की कि आपका स्मरण आया। मैं चाहता हूँ कि आप अपना सर्वश्रेष्ठ इस यज्ञ ज्वाला को दें जो प्रज्वलित की जारही है।

सस्नेह,
मो० क० गांधी'

अगस्त १९३२ में ब्रिटिश सरकार ने कम्यूनल एवार्ड की घोषणा की, जिसमें अछूतों' के लिए अलग निर्वाचन व्यवस्था थी, गांधीजी ने तुरत घोषणा की कि वे जीवनोत्सर्ग करके भी उसका विरोध करेंगे जिससे अस्पृश्य सदा अस्पृश्य बने रहेंगे। उन्होंने आमरण अनशन करने का निश्चय किया जबतक कि सरकार अपने निर्णय को न बदल दे।

अनशन २० सितंबर को आरंभ होने वाला था, और १९ सितंबर को रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने नीचे लिखा तार महात्मा गांधी को भेजा :

'महात्मा गांधी, यरवडा जेल, पूना।

भारत की एकता और उसकी सामाजिक अखंडता के लिये बहुमूल्य जीवन का बलिदान कर देना उचित है। यद्यपि हम पहले से नहीं कह सकते कि इसका प्रभाव हमारे उन शासकों पर क्या पड़ेगा जो यह नहीं समझते हैं कि इसका महत्त्व हमारे देशवासियों के लिये कितना अधिक है। हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे अपने देशवासियों के अन्तःकरण के प्रति ऐसे आत्म बलिदान का चरम निवेदन व्यर्थ नहीं जायेगा। मुझे पूरी आशा है कि हम कठोर न बनकर इस राष्ट्रीय दुखद घटना को चरम परिणति तक नहीं पहुंचने देंगे। हमारे शोक सन्तप्त हृदय आपकी इस महान तपस्या का श्रद्धा और प्रेम के साथ अनुसरण करेंगे।

१९, ९, ३२ रवीन्द्रनाथ ठाकुर'

२० सितम्बर को प्रातःकाल महात्मा गांधी ने रवीन्द्रनाथ को लिखा :

सेन्सर किया हुआ
हस्ताक्षर - अस्पष्ट
मेजर—आइ० एम० एस०
सुपरिन्टेन्डेन्ट,
यरवडा केन्द्रीय कारागार।

'प्रिय गुरुदेव,

मंगलवार के बड़े भोर तीन बजे हैं। दोपहर को मैं अग्निद्वार में प्रवेश करूँगा। इस प्रयास में, मैं आपका आशीर्वाद चाहता हूँ यदि आप दे सकें। आप मेरे एक सच्चे मित्र रहे हैं; क्यों कि आपने हमेशा मुझसे अक्सर खुलकर अपने मन की बातें कही हैं। मैंने इसके पक्ष अथवा विपक्षमें आपकी निश्चित राय जाननी चाही थी; किन्तु आपने इस विषयमें कुछ भी आलोचना करना अस्वीकार किया है। हालांकि अब यह मेरे उपवास के बीच में ही संभव है, मैं आपकी आलोचना का फिर भी स्वागत करूँगा अगर आपका मन मेरे कार्य की भर्त्सना करता है।

यदि आपका मन मेरे कार्य को समर्थन दे सके तो मैं आपका आशीर्वाद चाहूँगा। इससे मुझे आत्म-बल मिलेगा। मेरा विचार है कि मैंने अपनी बातें स्पष्ट रूप से कह दी हैं।

मेरा प्यार,

य० कें० का० मो० क० गांधी'

२०-८-३२,

१०'३० प्रातः

ज्यों ही अभी यह पत्र मैं सुपरिन्टेन्डेन्ट को दे रहा था कि मुझे आपका शानदार और प्यार भरा तार मिला। मुझे इस आँधी में जिसमें मैं प्रवेश कररहा हूँ ; टिके रहने की शक्ति इससे मिलेगी। मैं आपको तार भेजरहा हूँ।

आपको धन्यवाद।

मो० क० गांधी'

रवीन्द्रनाथ के तार के उत्तर में महात्मा गांधी ने यह तार भेजा :

'गुरुदेव, शान्तिनिकेतन, पूना २०. ९. १९३२

परमात्मा की दया का सदा अनुभव किया है। आज बड़े भोर आपका आशीर्वाद पाने के लिए आपको लिखा था कि यदि आप कार्य को स्वीकार कर सकें, और देखिए अभी प्राप्त आपके संदेश में वह मुझे प्रभूत रूप में प्राप्त हो चुका है, आपको धन्यवाद।'

२० सितंबर को शान्तिनिकेतन में रवीन्द्रनाथ ने एक सभा में महात्मा गांधीजी के उपवास का महत्त्व समझाते हुए भाषण दिया, और उसी दिन उन से मिलने पूना के लिए रवाना होगए। जब महात्माजी ने अपना उपवास समाप्त किया तब वे वहाँ उपस्थित थे, और गीताञ्जलि से उन्होंने महात्माजी को एक भजन सुनाया।

कम्यूनल ऐवार्ड के संबध में प्राप्त महात्माजी की सफलता से उत्साहित होकर रवीन्द्रनाथ ने उनसे निवेदन किया कि वे हिन्दू-मुस्लिम समस्या को हल करने में अपनी शक्ति लगावें। उन्होंने लिखा :

शान्तिनिकेतन

१. १०. ३२

"कलकत्ता, सितम्बर ३०, १९३२"

महात्माजी,

इन थोड़े से दिनों में असंभव को संभव होते देखकर हमारी जनता स्तंभित है और उन्हें इस बात का बहुत सन्तोष है कि आपके प्राण बच गये। अब यही एक उपयुक्त अवसर है कि जब आपके द्वारा दिया गया एक निश्चित आदेश हिन्दू समाज को इस बात के लिये प्रेरित करेगा कि वह मुसलमानों को अपने सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रसन्न करने का भरसक प्रयत्न करे। अस्पृश्यता के लिये आपके संघर्ष से भी अधिक कठिनाई इसकी सफलता की है।

क्योंकि हम में से अधिकतर लोगों में मुसल्मानों के प्रति एक गहरी उपेक्षा है और उन लोगों में भी हमारे लिये कोई अधिक प्रेम नहीं है", किन्तु आप यह जानते हैं कि किस तरह उनके हृदय जीते जा सकते हैं जो दुराग्रही हैं। और, मुझे पूरा विश्वास है कि आपमें ही वह प्यार और स्थिरता है जो युगों से संचित घृणा को दूर कर सके। मैं नहीं जानता कि किस तरह राजनैतिक परिणामों को आंका जाय; किन्तु मेरा विश्वास है कि इससे अधिक कीमती बात कोई और नहीं हो सकती, जिससे उनका विश्वास अर्जित किया जा सके और उनको इस बात का विश्वास दिलाया जा सके कि हम उन को कठिनाइयों और दृष्टिकोण को समझते हैं। वैसे, मैं आपको क्या सलाह दे सकता हूँ। और क्या करना चाहिये? इस सम्बन्ध में आपके निर्णय पर ही मुझे पूर्ण विश्वास है। किन्तु केवल एक सुझाव देने का साहस कर रहा हूँ कि आप 'हिन्दू महासभा' से आग्रह करें कि वह अन्य वर्गोंके प्रति समझौते का रुख दिखलाये।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप शक्ति प्राप्त कर रहे हैं और प्रति पल अपने आसपास शक्ति और आशा को जन्म दे रहे हैं।

श्रद्धान्वित स्नेह के साथ,

सदैव आपका,

रवीन्द्रनाथ ठाकुर'

उत्तर में महात्मा गांधी ने लिखा :

'प्रिय गुरुदेव,

आपका सुन्दर पत्र मिला। मैं प्रतिदिन आलोक का अनुसन्धान करने में लगा हूँ। हिन्दू और मुसल्मानों की यह एकता भी मेरे जीवन का उद्देश्य है। ये प्रतिबन्ध भी मेरे लिये बाधाएं हैं; परन्तु मैं जानता हूँ कि जिस दिन, मेरा आलोक से साक्षात्कार हो जायेगा वह इन प्रतिबन्धों का उच्छेदन कर देगा। इस बीच मैं प्रार्थना करता हूँ, यद्यपि अभी उपवास प्रारंभ नहीं किया है।

मुझे आशा है कि पूना में कठिन परिश्रम और उतनी थकाने वाली लम्बी यात्रा के कारण आपकी हालत बिगड़ी नहीं होगी।

महादेव ने पिछले माह की २० तारीख को गाँव वालों के लिये आपके सुन्दर उपदेश का अनुवाद हम लोगों के लिये किया।

प्यार सहित,

९, १०, ३२,

य० से० जे०

आपका,

मो० क० गांधी'

अपने 'महान् उपवास' के पश्चात् गान्धीजी पूर्णरूपसे अस्पृश्यता निवारण कार्य में लग गए, और उनके द्वारा प्रस्तावित सुधारोंमें से एक था कि 'अछूतों' के लिए सब मंदिरों के द्वार मुक्त कर दिए जावें। इस प्रसंग में रवीन्द्रनाथ ने महात्मा गांधी को लिखा :

मार्च १९३३

'प्रिय महात्माजी,

मुझे यह बात बिल्कुल पसन्द नहीं है कि किसी एक विशेष समुदाय द्वारा शोषण के विशेष उद्देश्य के लिये आध्यात्मिकता को ईंट और गारे से बने मन्दिर में घेरा जाय। मुझे पूर्ण विश्वास है कि सीधे सादे लोगों के लिये यह संभव है कि वे ईश्वर की उपस्थिति को खुली हवा में अनुभव कर सकें जहाँ किसी तरह की कृत्रिम बाधाएं नहीं हैं। बंगाल में हम एक ऐसे सम्प्रदाय को जानते हैं जो अपढ़ है और ब्राह्मण-धर्म-परम्परा से अछूता है ; किन्तु जिसमें पूजा के अत्यन्त सामान्य स्वरूप के दर्शन होते हैं। मन्दिरों में घुसने के सम्बन्ध में उनके लिये जो प्रतिबन्ध था उससे ही उन्हें अपनी आत्मानुभूति की शुचिता में सहायता मिली।

ईश्वर सम्बन्धी परम्परागत विचार और पूजा के परम्परागत स्वरूप धार्मिक रिवाजों के नैतिक मूल्य को शायद ही महत्त्व दे पाते हैं, उनका असली मूल्य उन प्रथाओं के अनुरूप होने में है जो पुजारियों के मस्तिष्क में पवित्रता और प्रतिबन्ध की भावना उत्पन्न करते हैं। जब हम उनसे न्याय और मनुष्यता के नाम पर तर्क करते हैं हम उसे बिल्कुल ही भूल जाते हैं ; क्योंकि जैसा कि मैंने पहले कहा है कि उद्देश्य के सम्बन्ध में नैतिक पुनरावेदन का उनके निकट कोई अर्थ नहीं है और आप जानते है कि बहुत सी प्रथाएँ और पौराणिक प्रसंग हमारे अनेक सम्प्रदायों और ऐसी प्रथाओं से सम्बन्धित हैं जो अप्रतिष्ठाजनक और अविवेकी हैं।

धर्मकी एक परम्परा मन्दिर पूजा से सम्बन्धित है और यद्यपि इस तरह की परम्परायें नैतिक-दृष्टि से गलत और नुकसानदायक हैं तथापि उनकी पूर्णतया उपेक्षा नहीं की जा सकती। वहाँ पर सवाल उनमें परिवर्तन उत्पन्न करने का तथा उनके क्षेत्र को अधिक व्यापक बनाने का तथा चरित्र का है। जहाँ तक तरीकों के अपनाये जानेका सवाल है वहाँ राय अलग अलग हो सकती है।

परम्पराओं की सुरक्षा का भार जिन लोगों पर है उनके अनुसार वे उनको बनाये रखने के लिये इस तरह कार्य करते हैं जैसे वे उनकी सम्पति हों ; क्योंकि वे मन्दिरों में मूर्ति-पूजा की सुविधा कुछ विशिष्ट वर्ग के लोगों तक ही सीमित रखते हैं। वे इस तरह की पूजा का

अधिकार न केवल ईसाइयों और मुसलमानों को नहीं देते बल्कि अपने समुदाय के कुछ वर्गों को भी नहीं देते। खास खास मंदिर और देव-मूर्तियाँ उनकी अपनी सम्पत्ति हैं और वे उन्हें लोहे की आलमारी में बन्द रखते हैं। यह सब वे परम्परागत धर्म के अनुसार ही करते हैं जिसने उन्हें इस प्रकार की स्वतंत्रता दी है, बल्कि यह कहना चाहिये कि इस तरह से कार्य करने का आदेश दिया है। कोई सुधारक इस प्रकार की अनैतिक परम्पराओं के प्रसंग में बल-प्रयोग नहीं कर सकता और उसे, जैसा कि वह, अन्य अनुचित और नुकसानप्रद प्रथाओं से लड़ते समय करता है, नैतिक शक्ति का प्रयोग करना चाहिये और बराबर उन्हें सुधारने का प्रयास भी। इस तरह की लड़ाई जारी है।

जहाँ तक शान्तिनिकेतन के प्रार्थना-भवन का प्रश्न है वह सभी लोगों के लिये, चाहे वे कोई भी धर्म माननेवाले क्यों न हों, खुला है। जिस प्रकार उसके द्वार किसी के लिये बन्द नहीं हैं उसी प्रकार वहाँ पूजा के रूपमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो विभिन्न धर्मावलम्बियों को अलग रखता हो। हमारे यहाँ पूजा आदि वृक्षों के तले भी हो सकती है, उसकी सत्य और शुचिता में कोई भी अन्तर नहीं आयगा, अपितु संभवतः इस प्रकार के प्राकृतिक वातावरण में उनमें वृद्धि ही होगी। जलवायु और मौसम की कठिनाइयाँ तो बाधक होती हैं, अन्यथा मैं नहीं समझता कि प्रार्थना के लिये तथा—आध्यात्मिक सत्ता से साक्षात्कार के लिये अलग इमारतों की आवश्यकता है।

मैंने हाल ही में लिखी बंगला रचनाओं में से एक कविता का अनुवाद करके 'हरिजन' के लिये भेज दिया है। मुझे पूर्ण आशा है कि वह 'हरिजन' पत्र के उद्देश्य के अनुरूप होगी जिसे मैं बड़े चावसे पढ़ता हूँ। भारत के लिये इससे अधिक आशाप्रद लक्षण कोई और नहीं हो सकता कि इस अनशन के परिणाम स्वरूप भारत की दमित जनता में जागृति आरही है।

सप्रेम सादर,

आपका सच्चाईपूर्वक,

रवीन्द्रनाथ ठाकुर'

१९३४ में बंगाल के मिदनापुर जिले में सरकार के दमनचक्र का समाचार सुनकर गांधीजी ने रवीन्द्रनाथ को लिखा :

'प्रिय गुरुदेव,

मिदनापुर में सरकारी कार्यों के विषय में प्रकाशित समाचारों ने मुझे स्तब्ध कर दिया है। पंजाब में सन् १९१९ में 'मार्शल ला' के कार्यों की अपेक्षा ये कार्य मुझे अधिक निकृष्ट

लगाते हैं। यहाँ मुझे केवल 'हिन्दू' ही मिला है। आप कुछ कर भी रहे हैं? क्या बंगाल कुछ कर रहा है? हमारी भीरुता मेरा गला घोंट देती है। या जो मैं सोचता हूँ ऐसा नहीं है, वहाँ कायरता नहीं है? क्या आप मुझे किसी प्रकार की सान्त्वना दे सकते हैं? मैं आशा करता हूँ आप स्वस्थ होंगे।

असीम प्यार के साथ,

२१. १. ३४.

सदैव आपका,

मो० क० गांधी'

गुरुदेव ने उत्तर दिया :

३१ जनवरी, १९३४

'प्रिय महात्माजी,

मिदनापुर में सरकारी कार्यों के विषय में लिखित आपका पत्र मैं प्राप्त कर चुका हूँ। मिदनापुर, इस प्रकार की एक अकेली घटना तो नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है, परवशता में आतंकित करना सरकार की स्वीकृत नीति है। सरकार के अवैधानिक और गलत कार्यों का नया विवरण, समाचार पत्रों में विस्तृत रूप से हम अभी अभी ही प्राप्त कर रहे हैं; किन्तु मुझे पर्याप्त अनुभव है इसलिये आश्चर्य की आवश्यकता नहीं। जहाँ तक इन कार्यों के लिये विरोध प्रकट करने की बात है; अपने जैसे पुराने लोगों से मैं डरता हूँ क्यों कि इनकी व्यावहारिक उपयोगिता बहुत कम है। सरकार और हमारे देशवासी मेरे विचार जानते हैं इसलिये मुझे नये विचार प्रकट करने की आवश्यकता नहीं हैं। फिर भी मैं आशा करता हूँ कि अपने को लिखने के लिये तैय्यार करूँगा और एक निबन्ध में मैं इस विषय की आलोचना करूँगा। इस प्रकार जो मुझे अपने स्वभाव और सामर्थ्यानुसार अनुकूल लगेगा, अपने ढंग से विरोध करूँगा।

असीम प्रेम सहित,

सदैव आपका,

रवीन्द्रनाथ ठाकुर'

शान्तिनिकेतन आश्रम की आर्थिक स्थिति से रवीन्द्रनाथ चिंतित रहते थे। आर्थिक कठिनाइयों के संबंध में एण्ड्रयूज के परामर्श के अनुसार उन्होंने महात्मा गांधी को लिखा :

शान्तिनिकेतन, (बीरभूम)
१२ सितंबर, १९३५

'मेरे प्रिय महात्माजी,

मैं प्रसन्न हूँ कि वर्धा की अपनी हाल की यात्रा में सुरेन आपसे आश्रम की आर्थिक परिस्थिति के संबंध में विस्तार से चर्चा कर सके। मैं जानता हूँ कि आप अपने नाना कार्यों में कितने व्यस्त रहते हैं और यद्यपि मैं ने प्रायः आपको अपनी कठिनाइयों से अवगत कराने के विषय में सोचा है तथापि ऐसा मैं ने पहले कभी नहीं किया। किन्तु चार्ली ने अनुरोध किया कि आपको परिस्थिति से अवगत कराया जाय, तभी मैंने आपसे चर्चा करने की अनुमति दी। तीस वर्ष से अधिक मैं प्रायः अपना सब कुछ अपने जीवन के इस लक्ष्य को अर्पित करता आरहा हूँ और जबतक मैं अपेक्षाकृत जवान और क्रियाशील था अकेले ही मैंने कठिनाइयों का सामना किया और अनेक संघर्षों के बीच से यह संस्था नाना पक्षों में विकसित हुई। और अब जब मैं ७५ वर्ष का हूँ, मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे उत्तरदायित्व का बोझ मेरे लिए ज्यादा भारी हो गया है और अपनी किसी कमी के कारण मेरी अपीलें मेरे देशवासियों के हृदयों पर उचित प्रभाव डालने में असफल रही हैं यद्यपि जो कार्य मैंने किया है और जिसको पूरा करने के लिए मैंने पूरा प्रयत्न किया है वह निश्चित रूप से मूल्यवान् है। तुच्छ परिणामों से युक्त निरंतर किए भिक्षाटनों ने मेरी दैनिक चिंताओं को और बढ़ा दिया है और मेरे शरीर को बिल्कुल जर्जरावस्था को पहुंचा दिया है। अब मुझे आपके अतिरिक्त और कोई नहीं दिखता जिसके शब्द मेरे देशवासियों को यह अनुभव कराने में सहायक हों कि यह उनका कर्त्तव्य है कि वे इस संस्था को अपने क्रियाकलापों को पूर्ण विकसित करने में समर्थ बनावें और मेरे ढलते हुए जीवन तथा स्वास्थ्य के आखिरी पर्व में मुझे स्थायी चिंताओं से मुक्त करें।

गहनतम प्रेम के साथ,
रवीन्द्रनाथ ठाकुर'

महात्मा गांधी ने उत्तर दिया :

प्रिय गुरुदेव,

आपका मार्मिक पत्र ११ तारीख को प्राप्त हुआ, जब मैं मीटिंगों में व्यस्त था। स्वयं ही मुझे यह पत्र देने की आशा में अनिल ने व्यर्थ ही अपने पास रख लिया। मैं आशा करता हूँ कि अब उसका स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक हो चुका होगा। हाँ, अब मेरे सम्मुख आर्थिक स्थिति की बात है। आवश्यक रकम को इकट्ठा करने के लिये मैं भरसक प्रयत्न करूँगा।

इसका आप भरोसा रखें। मैं अन्धकार में भटक रहा हूं। मैं रास्ता ढूँढ़ने का प्रयास कर रहा हूँ। आपको अपने प्रयास के परिणाम की सूचना देने में अभी समय लगेगा।

यह कल्पनातीत है कि आप अपनी इस उम्र में और मांगने के लिए निकलें। शान्तिनिकेतन से बिना बाहर गये ही आपके पास आवश्यक धन पहुँचना चाहिये।

मैं आशा करता हूँ कि आप स्वस्थ्य हैं। पद्माजी, जो कुछ दिनों पहले आपके साथ थीं आज यहाँ हैं और मुझे बतला रहीं हैं कि आप पर आयु का कितना प्रभाव आ गया है।

श्रद्धापूर्ण स्नेहसहित,

वर्धा, आपका

१३ अक्टूबर १९३५। मो० क० गांधी'

महात्माजी के प्रयास से उद्योगपतियों ने गुरुदेव की संस्था को आवश्यक धन देकर उन्हें चिंता से मुक्त किया—रुपया भेजते हुए उन्होंने लिखा :

दिल्ली

२७ मार्च १९३६

'आदरणीय महोदय,

इस पत्र के साथ संलग्न साठ हजार रुपये का ड्राफ्ट प्राप्त करें, यह राशि हमारा विश्वास है कि शान्तिनिकेतन पर होने वाले खर्च की कमी है, जिसके लिये आप जगह जगह अपनी कला का प्रदर्शन कर रहे हैं। जब हमने यह बात सुनी तो हमें लज्जा का अनुभव हुआ। हमारा विचार है कि अपनी वृद्धावस्था में, और अपने गिरे हुए स्वास्थ्य को स्थिति में आपको ये कठिन यात्राएं नहीं करनी चाहिए। हम यह स्वीकार करते हैं कि हमें नाम के अतिरिक्त संस्था के सम्बन्ध में कुछ भी मालूम नहीं है। किन्तु युग कवि के रूप में आपकी महान् कीर्ति से हम अपरिचित नहीं हैं। आप न केवल भारत के सबसे बड़े कवि हैं अपितु मानवता के एकमात्र कवि हैं। आपकी कविताएं प्राचीन ऋषियों की ऋचाओं का स्मरण कराती हैं। आपने अपनी उत्कृष्ट प्रतिभा से हमारे देश की प्रतिष्ठा बढ़ाई है। और, हम ऐसा अनुभव करते हैं कि ईश्वर ने जिन्हें साधनों से संपन्न बनाया है उन्हें चाहिये कि आपको संस्था चलाने के लिये जितने धन की आवश्यकता है, उसे एकत्रित करने के भार से आपको मुक्त करें। हमारा योगदान उसी दिशा में एक छोटा सा प्रयास है। कुछ कारणों से, जिनका यहाँ उल्लेख

करना अनावश्यक होगा हम अपना नाम प्रकट नहीं करना चाहते। हमें आशा है कि उपरिलिखित धन एकत्रित करने के लिए आप अपने पूर्व निश्चित कार्यक्रम को अब रद् कर देंगे।

आपकी दीर्घायु की प्रार्थना करते हुए, जिससे देश को आपकी सेवा बराबर उपलब्ध रहे।

हम हैं,

आपके विनीत देशवासी'

महात्माजी ने लिखा :

'प्रिय गुरुदेव

मेरे तुच्छ प्रयास को ईश्वर ने सफल बनाया है। लीजिये यह धन है। अब आप अपने अन्य कार्यक्रम के स्थगित किये जाने की घोषणा कर जनता के मन को हल्का कर सकेंगे।

ईश्वर आपको आनेवाले अनेक वर्षोंतक जीवित रखे।

दिल्ली
२७-३-३६.

सस्नेह आपका,
मो० क० गांधी'

गांधीजी और रवीन्द्रनाथ अंतिम बार शांतिनिकेतन में फर्वरी सन् १९४० में मिले। जैसे ही वे एक दूसरे से विदा हो रहे थे कविने नीचे का पत्र गांधीजी के हाथों में रख दिया :

उत्तरायन
ता० १९-२-४०

'प्रिय महात्माजी,

आपको उस दिन हमारी विश्वभारती की गतिविधियों पर एक विहंगम दृष्टि डालने को मिली। मुझे नहीं मालूम कि आपने उसके सम्बन्ध में क्या राय कायम की। आपको मालूम है कि यद्यपि यह संस्था अपने तात्कालिक उद्देश्य में राष्ट्रीय है तथापि अपने वास्तविक रूपमें उसकी आत्मा अन्तर्राष्ट्रीय है, वह शेष संसार को अपनी भारतीय संस्कृति का आतिथ्य प्रदान करती है।

आपने एकबार इसको संकट की स्थिति में इसे पूर्णतया भंग होने से बचाया। और इसे अपने पैरों पर खड़े होने में सहायता की। आपके इस मित्रतापूर्ण कार्य के लिये हम सदैव आभारी हैं।

और अब आपके शान्तिनिकेतन छोड़ने के पहले मैं आप से एक मार्मिक निवेदन करना चाहता हूँ। इस संस्था को आप अपने संरक्षण में लेलें और अगर इसे आप एक राष्ट्रीय

संपत्ति समझें तो उसे स्थायित्व का भरोसा दें। विश्वभारती एक जहाज के समान है जो मेरे सम्पूर्ण जीवन का श्रेष्ठतम खज़ाना लिए जा रहा है। और मैं आशा करता हूँ कि मेरे देशवासियों से वह अपने संरक्षण के लिए विशेष ध्यान के अधिकार का दावा कर सकती है।

प्यार सहित,

रवीन्द्रनाथ ठाकुर'

"UTTARAYAN"
SANTINIKETAN, BENGAL.

Dear Mahatmaji

You have just had a bird's-eye view this morning of our Visva bharati centre of activities. I do not know what estimate you have formed of its merit. You know that though this institution is national in its immediate aspect it is international in its spirit offering according to the best of its means India's hospitality of culture to the rest of the world.

At one of its critical moments you have saved it from an utter break down and helped it to its legs. We are ever thankful to you for this act of friendliness.

And, now, before you take your leave from Santiniketan I make my fervent appeal to you, accept this institution under your protection giving it an assurance of permanence if you consider it to be a national asset. Vishva bharati is a like a vessel which is carrying the cargo of my life's best treasure and I hope it may claim special care from my countrymen for its preservation.

विश्वभारती को अपने संरक्षण में लेने का महात्माजी से निवेदन : गुरुदेव के पत्र की प्रतिकृति।

रेल में जाते हुए महात्माजी ने लिखा :

कलकत्ता के रास्ते में,

१९-२-४०

'प्रिय गुरुदेव,

हम लोगों के विदा होने के समय जो मर्मस्पर्शी पत्र आपने मेरे हाथों में सौंपा वह सीधे मेरे हृदय तक पहुँचा है। निश्चितरूप से विश्वभारती एक राष्ट्रीय संस्था है। और निस्सन्देह वह अन्तर्राष्ट्रीय भी है। इसको स्थायित्व प्रदान करने की दिशामें जो कुछ भी सम्मिलित प्रयास मेरे द्वारा किया जा सकता है। आप आश्वस्त रहें, मैं करूँगा।

मैं आशा करता हूँ कि आपने दिनके समय प्रतिदिन एकघण्टा सोनेका प्रयास करने का जो वचन दिया उसे पूरा करेंगे।

यद्यपि शान्तिनिकेतन को सदैव अपना दूसरा घर समझा है, फिर भी इस यात्रा ने पहले की अपेक्षा मुझे उसके निकटतर ला दिया है।

श्रद्धा और स्नेह सहित,

मो० क० गांधी'

२ मार्च के हरिजन में गांधी जी ने शान्तिनिकेतन की अपनी यात्रा के विषय में विचार प्रकट किए और इस प्रसंग में उन्होंने गुरुदेव का पत्र भी उद्धृत किया :

'शान्तिनिकेतन की यात्रा मेरे लिये तीर्थयात्रा थी। शान्तिनिकेतन मेरे लिये नया नहीं है। मैं वहाँ प्रथमबार सन् १९१५ में गया था जबकि उसका स्वरूप प्रतिष्ठित हो रहा था; यों अब भी हो रहा है। स्वयं गुरुदेव भी विकसित हो रहे हैं। वृद्धावस्था के कारण उनके दिमाग के लचीलेपन में कोई अन्तर नहीं आया है, इसीलिये शान्तिनिकेतन का विकास कभी भी अवरुद्ध नहीं होगा, जबतक गुरुदेव की आत्मा उसपर विराजती रहेगी।

संस्था को अपने संरक्षण में लेनेवाला मैं कौन हूँ ? उसको तो ईश्वर संरक्षण देगा; क्योंकि उसकी स्थापना एक पवित्र आत्मा द्वारा हुई है। गुरुदेव स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय हैं; क्योंकि वे सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय हैं। अतएव उनका सम्पूर्ण सृजन अन्तर्राष्ट्रीय है, और विश्वभारती उनमें सर्वोत्कृष्ट है।

मुझे किंचित भी सन्देह नहीं है कि जहाँतक उसके आर्थिक पक्ष का संबंध है उसके भविष्य के विषय में गुरुदेव को समस्त चिन्ताओंसे मुक्त किया जाना चाहिए। उनके मार्मिक निवेदन के उत्तर में जो भी सहायता मैं दे सकता हूँ, मैंने देने का वचन दिया है। यह टिप्पणी इस प्रयास का प्रारंभ है।'

सन् १९४० में गुरुदेव की गंभीर रुग्णावस्था के समय महात्माजी ने लिखा :

दिल्ली १. १०. ४०

'प्रिय गुरुदेव,

आपको कुछ समय और रुकना चाहिए। मानवता को आपकी जरूरत है। यह जानकर कि आप कुछ अच्छे हैं मुझे असीम प्रसन्नता हुई।

सप्रेम,

आपका,

मो० क० गांधी'

गुरुदेव ने उत्तर दिया :

'महात्मा गांधी, वर्धा

आपकी सतत् शुभकामनाएँ मुझे तिमिराच्छन्न देश से प्रकाश और जीवन के देश में लौटा लाई हैं और धन्यवाद की मेरी पहली भेंट आपको भेजी जा रही है।

रवीन्द्रनाथ,

६ द्वारकानाथ टैगोर लेन,

कलकत्ता'

गांधी और रवीन्द्रनाथ के बीच हुए पत्राचार में से चुने हुए पत्रों के इस प्रसंग को हम उनके बीच हुए संदेशों के अंतिम आदान प्रदान के साथ समाप्त करेंगे। कवि के जीवन के अस्सी वर्ष की समाप्ति पर हुए समारोह के अवसर पर गांधीजी ने यह तार भेजा :

'गुरुदेव, शान्तिनिकेतन,

चार बीसी पर्याप्त नहीं आप पांच पूरी करें। प्रेम, गांधी।'

उत्तर में गुरुदेव ने तार भेजा :

'महात्मा'-वर्धा,

संदेश के लिए धन्यवाद। किन्तु चार बीसी औद्धत्य है, पांच बीसी असह्य।

रवीन्द्रनाथ'

द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गान्धी

श्रीपुलिनबिहारी सेन

द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर (१८४०-१९२६ ई०) महर्षि देवेन्द्रनाथ के ज्येष्ठ पुत्र, रवीन्द्रनाथ के ज्येष्ठ सहोदर, कवि तथा अनेक दार्शनिक ग्रन्थों और निबंधों के रचयिता के रूप में बंगला साहित्य में प्रसिद्ध हैं। किन्तु उनका एक और परिचय है जो उतना अधिक ज्ञात नहीं है—वह उनके कार्य और चिन्तन में निहित स्वदेशप्रेम का परिचय है। भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस (इण्डियन नेशनल कॉंग्रेस) की प्रतिष्ठा (१८८५ ई०) के बहुत पहले 'स्वदेशी व्यक्तियों द्वारा स्वदेश की उन्नति साधन कराने' के उद्देश्य से कलकत्ता में जिस 'हिन्दू मेला' का प्रवर्तन (१८६९ ई०) हुआ द्विजेन्द्रनाथ उसके अन्यतम प्रतिष्ठाता एवं धारक-वाहक थे, चार वर्षोंतक (१८७०-७६ ई०) उसके सम्पादक भी थे। परवर्ती जीवन में किसी राष्ट्रीय आन्दोलन में विशेष रूप से योग न देने पर भी नियमित रूप से अनेक निबंध लिखकर स्वदेश के प्रति उन्होंने मंगलचिन्ता व्यक्त की है।

अपने देश की स्वदेशचिन्ता-धारा के संबंध में जीवन के अन्तिम दिनों में (१९२१ ई०) स्मृतिकथा में द्विजेन्द्रनाथ ने अपना मन्तव्य प्रकट किया है—

"एक प्रकार की स्वदेशी हमारे देश का फैशन हो गया था ; किन्तु उसमें एक विलायती गंध थी।...... उनकी देशभक्ति में बारह आना विलायती, चार आना देशी था। अँग्रेज जैसा पैट्रियट (देशभक्त) होता है उसी तरह पैट्रियट हूँगा—यही भाव उनके मन में ज्यादा था। बताओ तो मैं तुम्हारे जैसा पैट्रियट क्यों हूँगा? मैं अपनी तरह पैट्रियट न बन सकूँ तो क्या हुआ?"

अन्त में कहा है—

"यह सब देख सुनकर मैं तो बिलकुल हताश हो गया था। किन्तु अब कुछ आशा बँधी है। अब हमारे देश में शुद्ध देशभक्त (पैट्रियट) का आविर्भाव हो गया है—महात्मा गान्धी। वे हमको हमारी तरह पैट्रियट होने के लिए कहते हैं—तुम्हारे समान, विदेशी के समान नहीं, देखें क्या होता है।"

महात्मा गान्धी ने जब भारत में सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन का आरम्भ किया द्विजेन्द्रनाथ उस समय प्रायः अस्सी से ऊपर थे। इस के होते हुए भी वे महात्माजी की कर्मधारा के प्रति साग्रह दृष्टि रखते थे। चिट्ठी लिखकर महात्मा गान्धी को उत्साहित करते, विवाद में योग देते। लेख लिखकर असहयोग आंदोलन के मूल तत्त्वों की व्याख्या

करते। इन पत्रों के आधार पर यह निबंध लिखा जा रहा है। इस प्रसंग में यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि १९१५ में जब पहली बार महात्माजी शान्तिनिकेतन आए तबसे ही उनके तथा द्विजेन्द्रनाथ के बीच मैत्री स्थापित हो गई; और रवीन्द्रनाथ के समान महात्माजी भी द्विजेन्द्रनाथ को बड़ोदादा कहकर संबोधित करते थे।

१

असहयोग आन्दोलन के संबंध में महात्माजी को लिखित द्विजेन्द्रनाथ के पत्र—

पहली प्रकाशित चिट्ठी मिलती है वह १९१९ ई० की है, राल्ट एक्ट के प्रतिवाद में महात्मा गांधी ने जो सत्याग्रह आन्दोलन आरंभ किया था उसी समय यह पत्र लिखा था ऐसा अनुमान है—

१ मार्च--अप्रेल १९१९

'मेरे अत्यंत श्रद्धेय मित्र श्री गांधी

मैं अपने पूरे हृदय से चाहता हूँ कि आप निर्भीकतापूर्वक हमारे पथभ्रष्ट देशवासियों को बुराई को भलाई द्वारा जीतने के काम में, सहायता कार्य में, आगे बढे चलें। कभी कभी मुझे लगता है कि तपस्या और उपवास, जिनका आप उपदेश देते हैं ऐसे साधन नहीं हैं जो आवश्यक हों। परन्तु फिर सोचता हूँ तो लगता है कि एकदम अपने दृष्टिकोण से उस विषय पर निर्णय देने के योग्य हम नहीं हैं। आप ऐसे उच्च स्रोत से प्रेरणा प्राप्त कर रहे हैं कि आपके कथन और कर्तव्य की युक्तियुक्तता पर संदेह करने की अपेक्षा हमें उनमें कृतज्ञतापूर्वक दैवी विवेक और शक्ति से पूर्ण विधाता के पितातुल्य आदेश को देखना चाहिए।

इस भयानक संकट में परमात्मा आपकी शक्ति तथा रक्षक हो।

आपका स्नेहपूर्ण वृद्ध बड़ोदादा

द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर।'

जालियानवाला बाग के अत्याचार तथा खिलाफत समस्या के प्रतिकारस्वरूप महात्मा गान्धी ने १९२० ई० में १ अगस्त से असहयोग आन्दोलन आरंभ करने का प्रस्ताव रखा। इसी समय असहयोग आन्दोलन के सिद्धान्त के संबंध में द्विजेन्द्रनाथ ने महात्माजी को जो पत्र लिखा वह यहाँ दिया जा रहा है :—

[illegible] you do not refuse to yield the [illegible]
to the Lyon, if the lion is a lion de [illegible]
But you do refuse to demean yourself
by sharing any thing with the lion,
if the boasted Lion turns out to be
a [illegible] veritable Great Wolfe in the
garb of a lion.

Please send me a word whether I
am right or not in my surmise.

May God bless you with a full
shower of His mercy is the sincere
wish of your

Old Bordada
Dwijendranath Tagore

द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा लिखित पत्र की प्रतिछवि।

६ भाद्र १९७८

My dear most revered friend Mr. Gandhi
नमो नमः नमो नमः नमो नमः ;

Some say one thing and some say another about the defensive measure you have thought fit to adopt, at this present juncture, against the British misgovernment of India. The duty of non-co-operation with such misgovernment, which you are preaching incessantly to our terribly suffering people, who are dying of starvation by thousands without a murmur, is an appallingly serious matter when considered in its practical aspect. But apart from this, the sum and substance of your preaching, considered in its ideal aspect calls forth my admiration, like the clear blue sky of Sharat peeping through the rents of the evening clouds which overspreads it, on account of the Grand Simplicity of the thing. The thing (in question) appears to me to be this :—

शान्तिनिकेतन
६ भाद्र, १८४२
२२ अगस्त, १९२०

मेरे प्यारे अत्यंत श्रद्धेय मित्र श्री गान्धी,

नमो नमः। नमो नमः। नमो नमः

भारत की ब्रिटिश कुसरकार के विरुद्ध सुरक्षा विषयक जिन उपायों को इस समय आपने अपनाना उचित समझा है उनके विषय में कोई एक बात कहता है दूसरा दूसरी बात। ऐसी कुसरकार के साथ असहयोग का कार्य, जिसका आप हमारे अत्यंत पीड़ित देशवासियों में निरंतर प्रचार कर रहे हैं—जो चुपचाप हजारों की संख्या में भूख से मर रहे हैं, एक भयानक रूप से गंभीर प्रश्न लगता है यदि उसके व्यावहारिक पक्ष पर विचार करें। किन्तु इसके अलावा, आपके उपदेशों के सारमर्म के आदर्श पक्ष पर जब विचार करता हूँ तो मैं प्रशंसा करने के लिए बाध्य हो जाता हूँ। अपनी अद्भुत सरलता के कारण वह संध्याकालीन मेघों के बीच में से झाँकते हुए स्पष्ट नील आकाश के समान दिखता है, जो उसे ढँक लेते हैं। प्रस्तुत विषय मुझे इस रूप में दिखता है :—

सिंह को सिंह का भाग देना आप अस्वीकार नहीं करते, यदि सिंह वास्तव में सिंह हो। किन्तु आप सिंह के भागीदार बनने में अपने को हेय समझते हैं, यदि घमंडी सिंह के वेश में एक सच्चा भेड़िया निकल पड़े।

कृपा करके सूचित करें कि अपने अनुमान में मैं सही हूँ या नहीं।

परमात्मा अपनी करुणा की पूर्ण वृष्टि द्वारा आपको आशीर्वाद दे यह हार्दिक कामना है—आपके

वृद्ध बड़ोदादा,
द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर'

महात्मा गांधी को द्विजेन्द्रनाथ द्वारा लिखित और भी दो चिट्ठियाँ दी जारही हैं—

'श्रद्धेय महात्माजी,

एक गंभीर कारण जो आपके आन्दोलन के प्रसार को देश के इस भाग में रोकता है, शिक्षित समाज के एक भाग में फैला यह विश्वास है कि आपके प्रयत्न प्रत्यक्ष रूप से विध्वंसात्मक हैं अतएव प्रसार के योग्य नहीं ठहराए जा सकते। पूर्ववत् प्रत्यक्ष और संभावित सद् के महान प्रभावक के रूप में आपके कार्य में मेरा अपना विश्वास पूर्ववत् दृढ़ बना हुआ है; क्यों कि मैं

यह तर्क करना ज़रूर समझता हूँ कि 'एक नकारात्मक आन्दोलन', जैसा कि इसका नाम पड़ गया है, स्वयं युक्तियुक्त समर्थन का हक़ खो देता है। जब कोई व्यक्ति 'मदिरापान' जैसी घातक कुटेव का देह और आत्मा से दास होजाता है तो उससे उसे विरत करने का मार्ग सदा दुधारा होता है, या विरोधी के शब्दों में एक साथ नकारात्मक तथा सकारात्मक होता है। यदि वैद्य अपने उपचार में सफल होना चाहता है तो सर्वप्रथम उसे अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग रोगी को आकर्षण से बचने तथा बुराई पर विजय पाने के लिए करना चाहिए इसके पहले कि वह विष के स्थान पर उसे कोई और औषधि सेवन करने के लिए कहे। नई दवा का कोई असर नहीं होगा यदि साथ साथ रोगी अपनी पुरानी आदत से लाचार रहे; इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आरंभिक 'निषेधात्मक' विनाश की अवस्था रोगमुक्ति के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी बाद की 'स्वीकारात्मक' स्वास्थ्यलाभ की अवस्था। इसलिए हमारे देश को दुर्बल बनानेवाली संस्थाओं के बंधनों से मुक्तिप्राप्त करनी चाहिए इसके पहले कि उसके पुनर्जागरण के लिए कोई रचनात्मक कार्यक्रम हाथ में लिया जाय। मैं अपने देशवासियों से निवेदन करता हूँ कि वे इस महत्त्वपूर्ण सत्य को न भूलें, और मुझे पूरा विश्वास है कि आपके द्वारा उचित महत्त्व देने और बार बार दुहराए जाने से उन्हें यह हृदयगंम कराया जा सकता है।

प्रत्येक सफलता की कामना करते हुए

मुझे समझें,
आपका अत्यंत सच्चाई के साथ
द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर'

शान्तिनिकेतन
नवंबर १०, १९२० (?)।

असहयोग के नैतिक मूल्य

"श्रद्धेय महात्माजी,

उपर्युक्त विषय पर आपके अंग्रेज मित्र के पत्र को मैंने रुचि के साथ पढ़ा है। उनका यह तर्क प्रतीत होता है कि इच्छित उद्देश्य अर्थात् स्वराज्य उन साधनों द्वारा शान्तिपूर्वक नहीं प्राप्त किया जा सकता जो आपने अपनाए हैं जब तक कि प्रत्येक व्यक्ति मन, वचन और कर्म से निःस्वार्थ नहीं हो जाता। तब निःस्वार्थता अपने आप अपने पड़ोसी के प्रति प्रेम उत्पन्न करेगी, और स्वराज्य के लक्ष्य तक अपने आप पहुँचा जा सकेगा।

सर्वप्रथम 'निःस्वार्थता' शब्द का पूरा अभिप्राय समझ लेना चाहिए। इस का अभिप्राय है पूर्णता या स्वतंत्रता की उच्चतम अवस्था, ऐसी जिसमें व्यक्ति अपने स्व को भूल जाय। स्व (अहं) नष्ट नहीं हो जाता किन्तु मनुष्य के मन से उसकी उपस्थिति का भार हट जाता है, आदर्श व्यक्ति की तुलना आदर्श संगीतज्ञ से की जा सकती है जो स्वरों के सूत्रधार से दबा नहीं रहता तथापि वे सदा उसके मन में रहते हैं। उसका संगीत एक प्रकार से उमड़नेवाला प्रवाह है, किन्तु इसी लिए उसे 'स्वचालित' नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार एक आदर्श व्यक्ति के अपने सहजीवियों के प्रति प्रेम को स्वचालित कहने से सहज कहना अधिक उपयुक्त होगा। 'निःस्वार्थ' शब्द की व्याख्या स्पष्ट करने के पश्चात् यह समझना आसान होगा कि 'असहयोग' किस प्रकार अत्यंत स्वाभाविक है, और वर्तमान परिस्थितियों में पूर्ण स्वतंत्रता या पूर्णता प्राप्त करने का एकमात्र साधन है। संगीतज्ञ के उदाहरण का एकबार और उल्लेख करें तो ज्ञात होगा कि अपनी कला में निपुणता प्राप्त करने के पूर्व सामान्यतः उसे कठोर अभ्यास करना पड़ता है। और, जब तक वह दक्षता प्राप्त नहीं कर लेता, उसे अपनी कला का अभ्यास एकांत में या अनमेल शोरगुल से दूर, जो उसके प्रयत्नों या काम में व्याघात पहुँचावें, बैठकर करना होता है। ठीक यही मनोवृत्ति असहयोगियों की है, क्यों कि वे सभी विघ्न डालनेवाले या हानिकारक प्रभावों से अपने को दूर रखना चाहते हैं इसके पूर्व कि वे पूर्णता या पूर्ण स्वतंत्रता पाने की आशा कर सकें।

मैं कहना चाहूँगा कि यह पत्र आपको लिखे अपने उत्तर के पूरक के रूप में है, (आपका उत्तर), वह एक दम स्पष्ट तथा युक्तियुक्त है।

आप तथा आपके आन्दोलन की सफलता की कामना करते हुए,

मैं हूँ,

शान्तिनिकेतन, आपका अत्यंत सच्चाई पूर्वक

जनवरी १४, १९२१ द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर'

दीनबन्धु एण्ड्रयूज महात्मा गान्धी के अनुयायी तथा असहयोग आन्दोलन के समर्थक थे, किन्तु विदेशी वस्त्रों को जलाने की नीति का वे समर्थन नहीं कर पा रहे थे, इसकी आलोचना करते हुए उन्होंने महात्माजी को चिट्ठी लिखी। एण्ड्रयूज का तर्क था कि इसके परिणामस्वरूप कपड़ों के मूल्य में वृद्धि हो जावेगी और साधारण ग़रीब लोगों को कष्ट होगा। उस पत्र को उद्धृत करते हुए महात्माजी ने १ सितम्बर १९२१ तारीख के 'यंग इण्डिया' पत्र में 'विनाश का आचारशास्त्र' (एथिक्स आफ् डेस्ट्रक्शन) शीर्षक लेख लिखा जिसमें विदेशी वस्त्रों को जलाने

की नीति की व्याख्या की। इस पत्र को पढ़कर द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर ने 'यंग इण्डिया' को दो पत्र लिखे :—

एक द्विविधा

'प्रिय महोदय,

आपके पत्र में एथिक्स आफ् डेस्ट्रक्शन (विनाश का आचारशास्त्र) शीर्षक लेख पढ़कर नीचे लिखी द्विविधा मेरे सम्मुख उपस्थित हुई है :

१. यदि हम सस्ता विदेशी कपड़ा पहनना स्वीकार करें, तो हमारे देशवासी तबाह हो जावेंगे। यह स्वीकार करना कठिन है।

२. यदि हम महँगा स्वदेशी कपड़ा पहनना स्वीकार करें, हमें अन्य कठिनाइयों को स्वीकार करना पड़ेगा।

दोनों ही स्थितियों में दोनों पक्षों द्वारा समान जोर देकर यह कहा जावेगा कि हमें परमात्मा के भरोसे छोड़ देना चाहिए।

मेरा विचार है कि परमात्मा पर यह तथाकथित भरोसा पहली स्थिति में गलत पक्ष को स्वीकार करना होगा और दूसरी स्थिति में सही पक्ष को स्वीकार करना होगा।

शान्तिनिकेतन, आपका विश्वासभाजन,
७ सितंबर १९२१ द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर'

दूसरी चिट्ठी महात्मा गान्धी ने अपने वक्तव्य के साथ प्रकाशित की--

विनाश का आचारशास्त्र

बड़ोदादा (द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, शान्तिनिकेतन) ने 'एथिक्स आफ् डेस्ट्रक्शन' शीर्षक लेख पढ़कर मुझे नीचे लिखा भेजा है। स्वाभाविक रूप से मेरे लिए यह आनंद का विषय है कि एक ऐसा आदरणीय और विद्वान् नैतिक दृष्टिकोण से सहमत हो जिसे, मैंने ऐसों के भी विरोध के बावजूद जिनके मत को मैं मूल्यवान समझता हूँ और सम्मान करता हूँ, स्वीकार किया। पाठक यह जानकर प्रसन्न होंगे कि बड़ोदादा के रूप में हमें एक ऋषि प्राप्त हैं जो अपने निभृत एकांत में राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधि का पाँच और बीस वर्षों के नवयुवक के समान उत्सुकता से परिचय रखते हैं और सदा उसके विषय में सोचते रहते हैं तथा उसकी सफलता के लिए प्रार्थना करते रहते हैं। पत्र यहाँ दिया जा रहा है :

"एक व्यापारी था, जो एकाएक दिवालिया होगया और अत्यंत गरीबी की स्थिति में पहुँच गया ; उसी समय उसकी पत्नी शय्याग्रस्त थी, गठिया के भयानक दर्द से पीड़ित थी। एक औषध-विक्रेता था जो पेटेंट दवाइयों की बिक्री करता था, अपने खरीददारों से वह हमेशा नक़द दाम लेता था। महिला को देखने एक चिकित्सक मित्र आया, और उसी समय उसकी लड़की अपनी ससुराल से अपनी अस्वस्थ माँ को देखने आई और अपने साथ दस रुपये का एक नोट लाई जिससे वह पेटेण्ट दवाई खरीद सके जो उसकी पीड़ा को तुरत ठीक कर दे। उसने नोट चिकित्सक को दे दिया, और उससे पड़ोस में रहनेवाले औषध-विक्रेता के यहाँ से दवाई खरीद लाने के लिए कहा और वह लौट गई। डाक्टर बोला कि औषधि उसे तुरत आराम तो पहुँचावेगी, इसमें संदेह नहीं है, किन्तु इसके साथ ही वह उसके स्वास्थ्य को इतना बिगाड़ देगी कि वह पूरे जीवन जर्जर रहेगी। किन्तु, डाक्टर ने कहा, वह एक बिजलीवाले को जानता है जो उसका पड़ोसी है, वह बिजली के इलाज द्वारा गठिया ठीक कर सकता है, वह दस रुपया प्रतिदिन लेता है। एक महीने में सामान्य स्वास्थ्य को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाए बिना वह बिलकुल ठीक कर देगा।

किन्तु रोगी ने हठ किया कि उसे तुरत आराम चाहिए, और डाक्टर से बार-बार बैंक नोट माँगा जिससे वह तत्काल दवा मंगा सके। किन्तु डाक्टर ने कहा कि वह जानबूझ कर इस काम के लिए नोट नहीं दे सकता और ऐसा करना वह पाप समझता है। डाक्टर ने अपनी जेब से दियासलाई निकाली और नोट को जलाकर राख कर दिया ; और कहा कि उसे चिंता नहीं करनी चाहिए, वह तुरत ही बिजली वाले को अपने खर्चे से बुलावेगा, जिसे उसका पति चुका देगा जैसे ही वह अपनी संपत्ति प्राप्त करेगा। जब तुरत आराम पाने की आशा इस प्रकार एक क्षण में नष्ट हो गई तो रोगी ने डाक्टर से कहा "जो आप उचित समझें, करें।" अतएव डाक्टर ने तुरत विद्युत विशारद को बुलाया, जिसने उसे विश्वास दिलाया कि यदि वह उसे अपना इलाज करने की अनुमति दे तो वह एक महीने में स्थायी रूप से स्वस्थ हो जायेगी। तब डाक्टर ने जैसा वादा किया था वैसा ही किया, सभी को संतोष हुआ।

"क्या नोट का जलाना सत्कार्य था या पापमय कार्य?"

"उपर्युक्त बिलकुल श्री गांधी के वस्त्र जलाने के समान है। श्री गान्धी गरीबों को राहत देना अस्वीकार करते हैं जो उन्हें उनके बीच विदेशी कपड़ों को बाँटने के द्वारा दी जा सकती है। स्थायी रूप से उन्हें दीन पीड़ित प्राणी बनाने से बचाने के

लिए उन्होंने उन्हें उनके अपने हाथों से बने हुए वस्त्र देकर स्थायी रूप से सुखी बनाने का वादा किया है।"

मो० क० गा०

एक चिट्ठी में द्विजेन्द्रनाथ ने प्रसंग आने पर लिखा है कि महात्माजी ने जो व्रत ग्रहण किया है वह उनकी व्यक्तिगत साधना नहीं है, ईश्वर ही भारतवर्ष को दीर्घकालीन पराधीनता से मुक्ति देने के लिए उनके द्वारा वह काम संपन्न करा रहे हैं। 'इन गोड्ज़ हैण्डज़' (परमात्मा के हाथों में) शीर्षक एक भूमिका देकर महात्मा गान्धी ने वह चिट्ठी प्रकाशित की—

परमात्मा के हाथों में

'यद्यपि बड़ोदादा तथा एक अंग्रेज़ धर्मप्रचारक के पत्र में व्यक्तिगत सन्दर्भ हैं तथापि वे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि मैं उन्हें जनता के सम्मुख रखने के प्रलोभन को नहीं छोड़ सकता। बड़ोदादा के पत्रों को मैं ने सदा अपने लिए आशीर्वाद रूप में समझा है। यह मेरे लिए परम संतोष का विषय है कि वे जीवन की इस अवस्था में संघर्ष में इतनी सक्रिय रुचि लेते हैं तथा उसे अपने आशीर्वाद देते हैं। इस अंक में प्रकाशित पत्र आंदोलन को आशीष देने के अतिरिक्त एक आध्यात्मिक कठिनाई को भी सुलझाता है जिसने अनेक गंभीर जिज्ञासुओं को उलझन में डाल रखा होगा। एक सुधारक को, जिसे साधनों और मनुष्यों से, वे जैसे हैं, काम लेना पड़ता है, जोखिम उठाने पड़ते हैं तथा समयोचित कार्य सिद्धि के लिए भी किए गए कार्यों को स्वीकार करना पड़ेगा। अतएव सदा नैतिक दृष्टि से खरे कार्यों को करने की आवश्यकता है। नीति की दृष्टि से ईमानदारी उतनी ही मान्य है जितनी ईमानदारी अपने आपके लिए। किन्तु बेईमानी अस्वीकार्य है भले ही वह महोत्तम विचारों से प्रेरित रहे। अच्छा विचार अच्छे कार्य के महत्त्व को बढ़ा देता है। किन्तु एक अच्छा काम भले ही बुरे विचार से किया गया हो अपने पूरे महत्त्व को नहीं खो सकता। कम से कम यह संसार के लिए तो अच्छा ही है। करनेवाला अकेला घाटे में रहता है क्यों कि बुरा विचार होने के कारण वह स्वयं अपने काम की अच्छाई के भाग से अपने आप को वंचित कर लेता है। अहिंसा के मामले में सबसे अधिक आवश्यकता हिंसा को ढकने के लिए अहिंसा के धोखे से सावधान रहने की है।···

परन्तु दोनों पत्रों का सौंदर्य इनमें से प्रत्येक के लेखक द्वारा अपने अपने दृष्टिकोण से आन्दोलन में परमात्मा का हाथ देखने में है। मुझे यह बात स्मरण करते हुए दुःख होता है कि पिछले युद्ध में अंग्रेज़ और जर्मन दोनों ईश्वर को अपनी ओर मानते थे। मैं अभी भी नहीं जान सका हूँ कि जर्मनों की पराजय परमात्मा द्वारा उन्हें छोड़ देने का प्रतीक है या

अंग्रेजों की विजय परमात्मा की कृपा के फलस्वरूप हुई। परमात्मा की गति रहस्यमय है। वह प्रायः अपने भक्तों की परीक्षा पराजय और दुखों के द्वारा लेता है। अतएव मैं उनके विचार को स्वीकार करता हूँ क्योंकि संघर्ष, सर्वविदित है, एक सही उद्देश्य के लिए तथा और ऐसे साधनों द्वारा चलाया जा रहा है जो कम से कम प्रकट रूप से अहिंसात्मक हैं और अनेक असहयोगी तो निश्चित रूप से अहिंसक हैं। अहिंसा पूर्णरूप से ईश्वर पर भरोसा करती है। साहस, शुद्धता और सत्य का जैसा आश्चर्यजनक प्रदर्शन हुआ है उसका श्रेय लेने की यदि मैं धृष्टता करूँ तो मेरा सिर ही फिर जाये। किन्तु यदि हम यह विश्वास करें कि परमात्मा आंदोलन का संचालन कर रहा है और मेरे जैसे तुच्छ व्यक्ति को अपने हाथों में उपकरण के रूप में प्रयोग कर रहा है तो इसे आसानी से समझा जा सकता है।

द्विजेन्द्रनाथ की चिट्ठी—

परमात्मा की इच्छा

प्रिय महात्माजी,

कुछ विचारवान् व्यक्तियों ने अहिंसक असहयोग के औचित्य के प्रसंग में कुछ स्पष्ट ही कठिन शंकाएँ व्यक्त की हैं। उनका कहना है कि कपटपूर्वक अहिंसा का नकाब पहन कर अपने तानाशाह शासकों के प्रति दुर्भावना रखने की अपेक्षा हिंसोन्मुख विचारों को मुक्त रूप से व्यक्त करना बेहतर है। वे यह भी कहते हैं कि भारतीय हृदय से तो मोज़ेज़ के अनुयायी हैं जिसने मनुष्यों को अक्षम्य भाव से ईंट का उत्तर पत्थर से देने का पाठ पढ़ाया था जब कि बाहर से वे ईसा के उपदेशों के कट्टर अनुयायी जैसा आचरण करते हैं।

मैं इन मित्रों से पूछता हूँ कि वे हमसे क्या करने की अपेक्षा रखते हैं। क्या वास्तव में हमारे देशवासियों को हमारे विरोधियों को मार डालने और स्वयं मार डाले जाने की सलाह देते हैं? अथवा, क्या वे यह चाहते हैं कि हम अपनी स्वतंत्रता को अपने आततायी के चरणों में समर्पित करके क्षमाशीलता का अभ्यास करें और उनके सभी कुकृत्यों में उनके साथ सहयोग करें!

मेरे लिए यह दिन के प्रकाश की भाँति स्पष्ट है कि बुराई करनेवालों को क्षमा करने का अर्थ है उनके विरुद्ध कोई दुर्भावना न रखना किन्तु किसी भी देश के लोगों से, जैसी कि संसार की इस समय स्थिति है, हम यह आशा नहीं कर सकते कि वे बिना संयम तथा अन्य प्रारंभिक नियमों का अभ्यास किए ईसा मसीह और बुद्ध के समान उच्च कोटि के संत बन जायेंगे। जब आततायी बिना किसी हिचक के हमारे देशवासियों की स्वतंत्रता का दमन कर

रहे हैं, यह सोचना बिल्कुल स्वाभाविक है कि बदले में हमारे देशवासी उन्हें अपना बद्ध वैरी समझें। अतएव उन लोगों का यह कर्तव्य है, जिन्होंने कठोर संयम द्वारा मानव मन की सम्पूर्ण स्वाभाविक दुर्बलताओं पर वास्तव में सफलता पा ली है कि वे अपने से नीचे स्तर पर स्थित भाइयों को अपने उदाहरण और उपदेश द्वारा यह दिखावें जिससे वे अपने क्रोध और दुर्भावना के भावों पर काबू रख सकें तथा आचरण द्वारा उनका प्रदर्शन न करें और इस प्रकार धीरे धीरे अपने दुर्गुणों पर विजय प्राप्त कर सकें। अपने शत्रुओं के प्रति संपूर्ण दुर्भावनाओं से अपनी आत्मा को मुक्त करने की दिशा में तथा भीतर और बाहर से सच्चा अहिंसक होने के लिए यह पहला क़दम है। मैं इसे निश्चित रूपसे जानता था और मेरे आलोचक मित्रों को भी यह जानना चाहिए कि आप यह सब पूर्ण हृदय, और बुद्धि, मन, वचन, काया से कर रहे हैं, मेरा विश्वास है कि यह आपका ही अपना काम नहीं है किन्तु भारत और हमारे देशवासियों को युगों की आधीनता से उद्धार करने के लिए आपके माध्यम से परमात्मा का कार्य है।

सदा प्यारसहित,

शान्तिनिकेतन, द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर

३१ दिसंबर, १९२१

२

असहयोग आन्दोलन—रवीन्द्रनाथ तथा द्विजेन्द्रनाथ का वाद-विवाद

यह बात तो सभी जानते हैं कि महात्मा गांधी के महान् चरित्र के प्रति रवीन्द्रनाथ की असीम श्रद्धा होते हुए भी उनके द्वारा प्रवर्तित असहयोग आन्दोलन को वे स्वीकार न कर सके। जब महात्माजी ने असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव रखा (१९२०) तब रवीन्द्रनाथ विदेश में थे; वहाँ से उन्होंने असहयोग आन्दोलन के सम्बन्ध में अपना मत शान्तिनिकेतन के तत्कालीन अध्यक्ष अध्यापक जगदानन्द राय को लिखे पत्र में लिखा, जिसे पढ़कर द्विजेन्द्रनाथ अपने छोटे भाई के साथ पत्र द्वारा (इस विषय में) विस्तृत आलोचना में प्रवृत्त हुए। रवीन्द्रनाथ का पत्र यह है—

[२० सितम्बर, १९२०]

……परम गति ही सत्य है, अर्थात् ऐसी गति जिसके प्रति पद-क्षेप में ही सार्थकता है। वह गति जिसके चलने में सार्थकता नहीं, मोह है, केवल नशा है। एक है धनात्मक (पाजिटिव) गति, दूसरी है ऋणात्मक (नेगेटिव) गति। जब सारे देश में उथल-पुथल मची हुई है तब अच्छी तरह सोचना होगा कि इस गति की प्रकृति क्या है? जिस जल में

स्रोत का प्राबल्य है लेकिन तट नहीं, वह बाढ़ है। बाढ़ तोड़ती है, बहाती है, फसल नष्ट करती है। हमारे देश में जो आवेग आया है वह यदि केवल तोड़फोड़ की ही बातें लेकर आए तो अवर्षा से सूखे खेत को अतिवर्षा की अगाध क्षति से डूब जाना होगा। मेरा अनुरोध यह है कि जब मन किसी प्रकार जाग उठा है, तब उस शुभ अवसर पर मन को कसकर काम में लगा दो, बेकाम में लगाकर शक्ति का अपव्यय न करो। नान को-आपरेशन (असहयोग) बेकाम (का) है—उसका आविर्भाव अन्तिम है। शास्त्रों में कहा है कर्म द्वारा ही कर्म से मुक्ति मिलती है, निष्कर्म द्वारा नहीं। आज सबको मिल कर सब काम करने का समय आया है। वह काम बाह्य रूप कितना करेगा यह सोचने की जरूरत नहीं, काम के उपलक्ष्य में हमारा जो मेल है, वह मेल ही सच्चा है, उस सच्चे मेल में चरम लाभ है। बेकाम के उपलक्ष्य में जो मेल है वह कभी भी सच्चा और स्थायी नहीं हो सकता। गीता में कहा है—"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" —सत्य का मेल जो थोड़ा भी दे वह भी बहुत बड़ा है, और क्रोध का मेल, खिलाफत का मेल ऐसा ठेगा जिसे फेंकने की ही चिन्ता हो जाएगी झूठा जोड़ जब टूटता है तब भलाई के साथ नहीं टूट जाता, अपने आप में ही सिर से दनादन टकराता रहता है। इसलिए फिर एकबार देश को यह कहने का अवसर आया है कि यदि समिधा संग्रहीत हो रहा है तो यज्ञ के लिए, दावानल जलाने के लिए नहीं। एकदिन मैंने 'स्वदेशी समाज' में जो कहा था फिर वही बात कहना चाहता हूँ। हमलोग जो क्रोध कर रहे हैं उसकी गति बाहर की ओर है, अर्थात दूसरे पक्ष की ओर यानी दूसरे ने अपना कर्त्तव्य किया है या नहीं, यही उसका मुख्य लक्ष्य है। भिक्षा के अवसर पर भी वही लक्ष्य प्रबल रहता है। मैं कहता हूँ कम से कम बाहरी पक्ष को भूलो। दूसरे के साथ असहकारिता की ओर ही पूरी रुझान मत रखो, अपने लोगों के साथ सहकारिता की ओर ही पूरी तरह झुको। हमलोग शिक्षा, स्वास्थ्य, पूर्तकार्य, विचार आदि सारा कार्यभार पूरी तरह अपने हाथों में लेंगे, यही प्रण करो। इसलिए सारे देशभर में प्रतिष्ठान की स्थापना जरूरी है। गांधीजी उस प्रतिष्ठान का कर्तृत्व ग्रहण करके हमलोगों को काम के लिए आह्वान करें, बेकाम के लिए नहीं। हम लोगों के पास से धन एवं काम का कर माँगें। हमारा अन्नकष्ट, जलकष्ट, पथकष्ट, रोगकष्ट सब हम स्वयं दूर करेंगे यह सत्याग्रह हमारे द्वारा कराएँ। उसका बाह्य परिणाम क्या होगा इसके हिसाब-किताब की कतई जरूरत नहीं, लेकिन इस सत्यग्रहण का परिणाम गहरा और स्थायी होगा।"

इस पत्र को पढ़कर द्विजेन्द्रनाथ ने रवीन्द्रनाथ को लिखा—

द्विजेन्द्रनाथ का पत्र

ॐ १६, अगहन, १३२७ बंगाब्द
शान्तिनिकेतन
१ दिसम्बर, १९२० ।

रवि,

कुछ दिन पूर्व जगदानन्दबाबू को तुमने जो पत्र भेजा है उसमें बहुत-सी बातें सोच देखने की अवश्य हैं, पर फिर भी तुम प्रातिभ ज्ञान को ऊँची भूमि से न्याय-शास्त्रीय-वाद-वितण्डा के वन जंगल के घुमावदार पथ पर आ खड़े हुए हो ; देखकर मुझे भय हो रहा है कि पथ भूल कर तुम कहीं भूल-भूलैया में न पड़ जाओ ।

तुमने इंग्लैण्ड के राजनैतिक वर्ग की विचित्र परिस्थिति, राक्षसीय आचरण अपनी आँखों से देखकर मनस्ताप और पीड़ा से एण्ड्र्यूज साहब को जो ये कुछ पंक्तियाँ लिखी थीं, वे मुझे बहुत अच्छी लगी थीं ।

'मुझे पूरा विश्वास है कि अंग्रेज लोग हमें ऐसा कुछ भी नहीं दे सकते जो यथार्थतया महान् हो, और उनके हाथों से कुछ ग्रहण करना हराम है । हमलोगों को इनके साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए ।'

लेकिन जगदानन्दबाबू को ठीक इसके विपरीत जो तुमने लिखा है कि नान-कोआपरेशन (असहयोग) बेकाम (का) है, यह ऋणात्मक है, यह पढ़कर हँसूँ या रोऊँ समझ में नहीं आया । जहाँ सारे देशवासियों, आबाल-वृद्ध-वनिता के प्राणों को लेकर खींचातानी चल रही है वहाँ मर्मान्तक गुरुतर विचारों को लेकर तर्क-वितर्क और खण्डन-मण्डन करने की मेरी ज़रा भी तबियत नहीं होती, क्योंकि हृदय और कर्म के साथ इस प्रकार सम्पर्क वर्जित शुष्क ज्ञान का आन्दोलन अनर्थ का मूल है, इस विषय में मेरा ज्ञान खरा है, इस कारण मैं रोगी और साथ ही ओझा भी हूँ : अतएव वृद्धस्य वचनं ग्राह्यम् ।

तुमसे अधिक कहना व्यर्थ है, इसलिए एक-दो बातों की ओर संकेत भर करके लिखना बन्द कर रहा हूँ ।

एक

कंटकाकीर्ण वन (पथ) के बीच चलते हुए जिस पथिक बेचारे का सर्वांग क्षत-विक्षत हो रहा है, वह यदि वन से बड़ी मुश्किल से प्रत्यावर्तन कर शरीर पर से काँटों को निकाल

फेंकने में तत्पर हो, तो क्या उसका यह कार्य ऋणात्मक होने के कारण निन्दनीय होगा ? और यदि वह कण्टकारण्य के स्पर्श से क्षत-विक्षत होकर भी गभीर से गभीरतर वन-गर्भ में प्रविष्ट होता हुआ परेशान होता रहे तो क्या उसका यह कार्य धनात्मक होने के कारण अभिनन्दनीय है ?

दो

हमलोग लगातार शासकों का विषमिश्रित दान ग्रहण करते हुए ऋण पर ऋण जोड़ रहे हैं। ऐसी हालत में जो व्यक्ति और अधिक ऋण न लेकर पूर्वकृत ऋण शोध की मन में इच्छा लिए हुए स्वाधीन भाव से अर्थोपार्जन करने में प्रवृत्त हो, उसके उस मनुष्योचित कार्य से उसे यह कह कर निवृत्त करने की चेष्टा करना कि तुम्हारा यह कार्य ऋणात्मक है और अधिक दान लेना तुम्हारे लिए उचित है, क्यों कि इस प्रकार का कार्य ही धनात्मक है; घृत भोजन करना धनात्मक, घृत भोजन न करना ऋणात्मक है, अतएव ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

तीन

तर्क-वितर्क छोड़ कर यदि असली काम की बात कहूँ तो वह यह कि अंग्रेज शासकों के साथ मिलकर काम करना हमलोगों के लिए ठीक ऐसा ही है जैसे—सारस पक्षी का शृगाल के साथ एक ही थाल-पात्रस्थित मांस का शोरवा भक्षण करना।

चार

यह बात सारे देशवासी जानते हैं कि महात्मा गान्धी काम, क्रोध, भय, लोभ, मद मत्सर की कीच से ऊपर बहुत ऊँची भूमि पर अवस्थित हैं। अतः गान्धी रणोन्मत्तता के के प्रति बिल्कुल ही वीतरागी और अहिंसा के ऐकान्तिक सेवक हैं; वे नशे की मादकता में किसी काम में प्रवृत्त नहीं होते। ऐसी स्थिति में मुझे लगता है कि गान्धी सदृश ऐसे एक महात्मा के मोहमुक्त विशुद्ध बुद्धि अनुमोदित शुभानुष्ठान में पग-पग पर भूल दिखाने की अपेक्षा उनके साधुजनोचित सत्कार्य में सर्वान्तःकरण से योग देना ही हमलोगों के लिए श्रेयस्कर है।

मेरा तो यह ध्रुव विश्वास है कि गान्धी के समान सच्चा सोना इस घोर कलिकाल में मिलना दुष्कर है। तुम्हारे साथ बहस करना मेरे लिए कितना अप्रीतिकर है यह बताने की

आवश्यकता नहीं। अतएव उपर्युक्त दो-चार स्मरणीय बातें तुम्हारी विवेचना के सुपुर्द कर मैं अबकी बार के लिए चुप हो रहा हूँ। तुम्हारे ऊपर देशका मंगलामंगल पूरी तरह निर्भर कर रहा है; इसलिए कह रहा हूँ कि तुम्हें देश की वर्तमान दशा का आद्यन्त भली प्रकार विवेचन करके देश के जन साधारण को उचित हित परामर्श देना चाहिए। इस कार्य में तुम्हारे समान पारदर्शी दूसरा कोई नहीं है। मैं हृदय से प्रार्थना कर रहा हूँ कि हमारे देश के शरीर से मोह-निद्रा हटाकर दूर फेंकने के इस उचित अवसर पर ईश्वर तुम्हें और हम सब को शुभ बुद्धि दे।

तुम्हारे स्नेह में बँधे

बड़ो दादा —"

इस पत्र का रवीन्द्रनाथ ने जो उत्तर दिया वह मिला नहीं; पर रवीन्द्रनाथ का उत्तर पाकर द्विजेन्द्रनाथ ने फिर जो पत्र रवीन्द्रनाथ को लिखा वह पत्र रवीन्द्रनाथ के पास सुरक्षित था; उसे यहां प्रकाशित कर रहे हैं—

ॐ

शान्तिनिकेतन

२५ फरवरी, १९२१

शुभाशिषां राशयः सन्तु।

मुझे स्मरण आरहा है—कम से कम बीस वर्ष पूर्व वायुभक्षक नागराज के तड़िद्‌भक्षक मुँहे बच्चों अर्थात केबुल नामका अटलान्टिक प्रसारित रेखा के सहारे एक शतरंजबाज को इंगलैण्ड से अमेरिका फिर प्रतिद्वन्दी शतरंज बाज को अमेरिका से इंग्लैण्ड भेजा गया; क्या गूढ़ मतलब हासिल करने के लिए पूरे सप्ताह मन में तरह तेतरह के कौशल रचकर एक-एक चाल चल रहे थे, उसे समझ पाना कठिन था। तुम्हारे मेरे बीच भी यदि उसी प्रचार की चाल चलनी आरम्भ हो जाए तो मालूम नहीं उसका अन्त कहाँ होगा। दो-तीन महीने पहले तुम्हें प्रबोधित करने के लिए पत्र द्वारा मैंने जो एक चाल चली थी, इतने दिनों के बाद तुम्हारे पास से उसकी पल्टी चाल लौटी। मैंने भारत समुद्र के इसपार बैठ हुए कहा—"किश्त!" उसे तुम्हारे कानों तक पहुँचने में एक महीना लगा, फिर एक महीना लगा तुम्हें उसका धक्का सँभालने में, फिर तीसरे महीने बाद जब तुमने कहा, "किश्त!" उसी प्रकार मेरे कानों तक पहुँचने में भी उसे महीना लगा, फिर एक महीना लग गया उसका धक्का सँभालने में। इसलिए अब और नहीं। जानते तो हो शास्त्र अपार है, समय कम तुम्हारे लौटने पर वितर्कित विषय के सम्बन्ध में तुम्हारे साथ भलीप्रकार समझौता होगा। फिलहाल तुम्हारे पत्र का उत्तर संक्षेप में दे रहा हूँ।

अपने पत्र में तुमने जो लिखा है, वह बात सोच विचारने की अवश्य है। शैतान महापुरुष मौका देखकर समय-समय पर उस्तादी चाल चलते हैं ऐसी चातुरीपूर्ण कि उनके गुप्त राज्ञ का भेद पाना कठिन है। उनके फुसफुसाहट भरे मंत्र के मारे बेचारा असहयोगिता श्रवण-कटु नैयुज्य बन जाता है—फिर नैयुज्य प्रातियुज्य—प्रातियुज्य प्रतिहिंसा बन जाती है पल भर में। इसके अतिरिक्त—शैतान की शनि दृष्टि तुम्हारे लाड़ले बच्चे सायुज्य पर पड़ने पर कोई हानि नहीं होगी यदि ऐसा सोचो तो तुम्हारी वह आशा दुराशा मात्र होगी। सभी जानते हैं, अविवेचना के गर्भजात कच्चे सायुज्य को दुर्जन सायुज्य बना, दुर्जन-सायुज्य को दलबद्ध दुराचार-प्रवर्तन कर, दलबद्ध दुराचार-प्रवर्तन को दिन दहाड़े डकैती डालकर निर्लज्ज और निरंकुश परिपक्व बनाने में शैतान महाप्रभु जैसा सिद्धहस्त दूसरा कोई नहीं। शैतान को अधिक आलोचित न कर सार बात बताता हूँ, सुनो।

योगशास्त्र में कहा है—

"सुखी मनुष्य के प्रति मैत्री भाव धारण करने से चित्त को ईर्ष्या-कल्मषता मिटती है।" "दुःखित व्यक्ति के प्रति कारुण्य भाव धारण करने से चित्त को परोपकार-कल्मषता दूर होती है।" "पुण्यशील के प्रति अनुमोदन का भाव धारण करने से चित्त की असूया-कल्मषता शेष होती है।"

उसके बाद कहा है—

"अपुण्यवस्तु च औदासीन्यमेव भावयेत्—नानुमोदनं—न वा द्वेषं।" अर्थात् "अधर्मपरायणों के प्रति (और इसीलिए—ब्रिटिश शासकों के समान दिन दहाड़े डकैती-परायण अविवेकी दुरात्माओं के प्रति) औदासीन्य भाव (अर्थात् नान कोआपरेशन का भाव) धारण करना ही विधेय है, अनुमोदन का भाव भी नहीं और न विद्वेष का ही भाव।"

योगशास्त्र में जो शास्त्रीय भाषा में कहा गया है, भारत के आबालवृद्धवनिता वही बात इस समय चलती बोलचाल की भाषा में कह रहे हैं—इसके अतिरिक्त कोई नई बात नहीं कह रहे हैं—कह रहे हैं, "दूर रहना ही सार वस्तु है।"

तुम्हारे शुभाकांक्षी
बड़ो दादा"

३

असहयोग आन्दोलन के सम्बन्ध में द्विजेन्द्रनाथ का लेख

'प्रवासी' पत्रिका के १३२८ बंगला साल (मई १९२१) की जेठ संख्या में असहयोग आन्दोलन

की आलोचना करते हुए जगदानन्द राय को लिखा गया रवीन्द्रनाथ का दूसरा पत्र प्रकाशित हुआ। द्विजेन्द्रनाथ का असहयोग आन्दोलन समर्थित लेख "नान कोआपरेशन क्या है?" शीर्षक लेख १३२८ साल की आषाढ़ संख्या (जून १९२१) में प्रकाशित हुआ। यहाँ उसका अनुवाद दिया जा रहा है–

नान कोआपरेशन (असहयोग) क्या है ?

कोआपरेशन (सहयोग) क्या है पहले यह ठीक से समझना होगा; फिर नान कोआपरेशन (असहयोग) क्या है यह समझने में किसी को देरी नहीं होगी। कोआपरेशन का कोष सम्मत शब्दार्थ है—सहकारिता या सहयोगिता, यह तो सभी जानते हैं; किन्तु उसका भावार्थ या तात्पर्य भिन्न व्यक्ति भिन्न प्रकार से लगाते हैं; —उसका कौन-सा अर्थ यहाँ मैं स्वीकार करूँ यह सोच रहा हूँ। अधिक नहीं सोच पा रहा—"महाजनो येन गतः स पन्थाः" यह प्रशस्त पथ अवलम्बन करना ही इस मामले में सर्वापेक्षा श्रेयस्कर होगा ऐसा समझता हूँ। यहाँ महाजन से तात्पर्य हमारे देश के शीर्ष स्थानीय गौराङ्ग महाप्रभु आदि से है, यह कहने की आवश्यकता न होगी।

शासक वर्ग के आदेश से जो टकसाल में गढ़कर तैयार होता है उसके बदले अपने निजी सुनार के द्वारा रुपया गढ़ाकर तैयार करके उस घर गढ़े रुपए को बाजार में चलाने का प्रयत्न लक्ष्मी माता के सेवकों के लिए जैसे भारी दुस्साहस का कार्य है ठीक वैसे ही देश के शीर्ष स्थानीय शासक वर्ग कोआपरेशन (सहयोग) का जो भावार्थ लेते हैं उसके बदले अपना मनगढ़न्त भावार्थ विद्वत्समाज में प्रचलित करने की चेष्टा करना सरस्वती माँ के सेवकों के लिए बहुत ही दुस्साहस का कार्य है—ऐसा सोचकर हमारे देश के कर्तृपक्षीय महाप्रभुओं ने कोआपरेशन (सहयोग) का जो भावार्थ लिया है, मैंने भी बिना किसी तर्क के नतमस्तक वही भावार्थ ग्रहण किया है। शासकों के मतानुसार कोआपरेशन (सहयोग) का भावार्थ क्या है यह किसी की आँख में अँगुली डाल कर दिखाने की जरूरत नहीं है· वह सारे देशवासियों के सामने मध्याह्न-दिवाकर के समान प्रत्यक्ष है। फिर भी यदि मेरे मुख से स्पष्ट उदाहरण सुनना चाहते हों तो सुनिए :—

बंग-भंग के विधान-प्रवर्तन के समय बंगाल के सारे लोगों ने जुट कर हमारे देश के हर्ता-कर्ता-विधाता महापुरुषों के सामने उसे हटाने के लिए जब यत्परोनास्ति विनीत भाव से हाथ जोड़कर आवेदन किया, तब उन गर्जनशील कर्जन आदि महापुरुषों ने देशी जन साधारण

की किसी भी बात पर दयार्द्र हो कर्णपात न कर देशभर में एक प्रचण्ड राष्ट्र विप्लव मचा दिया—फिर उसके प्रतिविधानार्थ जिस भयानक आसुरी चिकित्सा की व्यवस्था का वह उनके अपने हाथों रचे हुए रोग की अपेक्षा सैकड़ों गुना भयानक थी। इस उत्कट आसुरी चिकित्सा की विषज्वाला से विस्तीर्ण भारत देश रावण की चिता के समान आज भी भीतर ही भीतर जल रहा है—और कितने दिन तक उसे ऐसे ही जलना होगा कौन जाने ? फिर उस प्रज्वलित प्रलयाग्नि को वस्त्र से ढँक कर देश-विदेश की खोजदृष्टि से छिपा रखने के लिए उन परम धार्मिक महापुरुषों ने दो-चार पदलुब्ध देशी वाग्मी महोदयों को मंत्रणा सभा में कोआपरेशन (सहयोग) देने के लिए बुलाकर भारत-वासियों को जन्म भर के लिए कृत कृतार्थ किया ; हमलोगों के प्रति उनका इस प्रकार असाधारण कृपावर्षण होने पर भी हमारे देशवासी इतने गए गुजरे हैं कि इसके लिए उनके हृदय में कृतज्ञता का नामोनिशान नहीं है—यह कह कर हमारे ऊपर उल्टा दोषारोपण करने में उन्होंने ज़रा भी देरी नहीं की। उनके इस अतिरिक्त अनुग्रह के पर्वतभार से पीड़ित होकर सारे देशवासी कातर स्वर में पुकार मचाए हुए हैं "मुक्त कर दे माँ, रोकर भी हल्का करें।" लेकिन कमली छोड़ता नहीं। भारतवासियों के सर्वनाश का उन्मुक्त द्वार स्वरूप रालट एक्ट उसका साक्षी है—वह जिससे विधिबद्ध न हो इसके लिए मंत्रणा सभा के देशी मेम्बरों के अधिकांश लोगों के एक स्वर से यत्परोनास्ति विनय-अनुनय के साथ अनुरोध का फल हुआ—अनुरोध-कर्ताओं का भूतगत अपमान और लांछन-भोग, उससे अधिक और कुछ नहीं। शासकों का वांछानुरूप यह कोआपरेशन (सहयोगिता) लौहनिर्मित भीमदेह का आपादमस्तक-चूर्णकारी धृतराष्ट्र का स्नेहालिंगन है ; उससे जितना दूर रहा जाए उतना ही अच्छा—"दूर रहना ही सार वस्तु है।"

असहयोगिता क्या चीज है, यह हम लोग समझ गए हैं। जैसे :—

अपनी स्वाधीन शुभबुद्धि की प्रेरणा से हमलोग जिसे देश के लिए प्रकृत कल्याणकारी समझेंगे उसे जहां से भी हो ग्रहण करेंगे, लेकिन जो हमारे देश के लिए अनिष्टकारी है उसके साथ हमलोग सहयोग नहीं करेंगे, भले ही प्राणान्त हो जाए—यही है असहयोगिता।

हाय ! (इस) आसुरी माया सहयोगिता के विषमय फल को एकबार नहीं—दोबार नहीं—किन्तु दिनों—महीनों—वर्षों लगातार प्रत्यक्ष करते रहने पर भी हमारे देश के विश्वविद्यालय की चक्की से उद्‌गीरित अंग्रेजीदा महाशयों की आँखें अभी तक नहीं खुलीं ! उनके अधिकांश के विचार से सहयोगिता यह मंत्र वचन—भिन्न जातीय मनुष्य समाज के बीच प्रीति और सद्‌भाव का पथ खोल देने का अमोघ ब्रह्मास्त्र है, और असहयोगिता का मंत्र वचन भिन्न

जातीय मनुष्य समाज के बीच प्रीति और सद्भाव का पथ अवरुद्ध करने के लिए अभेद्य लौह प्राचीर है। उनमें यह समझ नहीं कि विभिन्न जाति के मनुष्य समाज के बीच प्रीति और सद्भाव विस्तार करने के लिए उन्हें कोई नहीं रोकता ; न तो विभिन्न जाति के मनुष्य समाज के बीच विद्वेषानल उकसाने के लिए ही कोई उन्हें प्रेरित करता है। यह बात तो अलग रही सभी देशों के प्रातः स्मरणीय मानव पूज्य महात्मा लोग मान्धाता के समय से आज तक एक स्वर से घोषणा करते आ रहे हैं कि अनिष्टकारी के प्रति अनिष्ट आचरण न करो, सब जीवों के लिए इष्ट चिन्ता और इष्ट चेष्टा करो। हमारे देश के ऋषि मुनियों के तो कहने ही क्या ; इसके साक्षी स्वरूप वाल्मीकि मुनि ने कहा है---"अक्रोधेन जयेत् क्रोधं, असाधुं साधुना जयेत्" "अक्रोध द्वारा क्रोध को जय करो, साधु व्यवहार द्वारा असाधु व्यवहार को जय करो" ; महाभारत में कहा है "न पापे प्रतिपापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत", "पापाचारी व्यक्ति के प्रति पापाचार न करो, सर्वदा साधु रहो ; "भगवद्गीता में कहा है कि योगी पुरुषों का प्रधान लक्षण है वे "सर्वभूतहिते रताः हैं।" 'इस युग के भारत पूज्य गांधी महात्मा प्राचीन कालके जगद्विख्यात उन सभी शास्त्रों के अनुपन्थी होकर बारबार ऊँची आवाज से घोषणा कर रहे हैं "हिंसात्मक कार्य करने वाले के प्रति हिंसात्मक व्यवहार न करो।" दूसरी ओर, मान्धाता के समय से आज तक किसी देश के किसी धर्मशास्त्र ने ऐसी विचित्र बात नहीं लिखी है कि अनिष्टकारी व्यक्ति के साथ सहकारिता करो या सहयोग करो, किसी शास्त्र ने नहीं लिखा कि जलदस्यु यदि तुम्हारी नौका डुबो देने को उद्यत हो तो तुम उस कार्य में उसकी सहकारिता करो, सहयोग करो अथवा इसके विपरीत उसके उपद्रव से नौका को पीछे हटाकर सुरक्षित बन्दरगाह में ले जाने की कोशिश न करो जगत्पूज्य महात्माओं के महावाक्य से सारी दुनिया के ऊँच-नीच मानव (हृदय) में आग लगने में अभी बहुत देर है ; विशाल भूमंडल में जहाँ-तहाँ, कहीं किसी एक गाँव के कोने में, कहीं किसी एकान्त गुफा के भीतर, वह धीमे धीमे सुलग रही है ; इसके अतिरिक्त—वर्तमान समय में यूरोप-अमेरिका के दो-चार महात्मा पाप-कलुषित जन समाज में बारबार फूँक मार कर उसे चेताने की प्राणपण चेष्टा करके आखिर हार कर मन के खेद से यह कह कर अरण्य रोदन कर रहे हैं "हाय! आग में फूँक मारना ही व्यर्थ हुआ, आग कैसे भी नहीं जली, जर्मन युद्ध का क्रम अभी जारी है।" सारी दुनिया में सद्भाव और सौहार्द प्रसार क्या मामूली बात है ? यह इतना बड़ा और बृहद् मामला है कि कोई एक देवानुगृहीत महापुरुष अकेले एक शताब्दी में तपाक से उसे कर दिखाएँ यह घुणाक्षर न्याय से भी संभव नहीं।

ईश्वर की अचिन्त्य महती शक्ति के प्रभाव से वह तभी घटित होगा जब उसे घटना है, तब कोई भी उसे रोक नहीं सकेगा। महात्मा गांधी इतनी दूर हाथ न बढ़ाकर, हमारे इस अकालपीड़ित देश के दुःख निवारणार्थ उचित उपाय की चिन्ता और उस उपाय की चेष्टा में निर्भीक हृदय से अविश्रान्त रूप से अपने जीवन को उत्सर्ग करके देशभर के सर्वाङ्गीण हितानुष्ठान में कमर कस कर जुट गए हैं, हमें उसके लिए उन्हें तथा उनके अन्तर्यामी सर्वमंगलालय प्रेरणादाता को हृदय से धन्यवाद देना चाहिए—इसके विपरीत गान्धी के समान एक ऐसे निःस्वार्थ, निर्भीक, सदभिसन्धिपूर्ण, सत्कार्यपरायण, तपोबल समन्वित महात्मा को, हर बात और हर काम के बहाने उन्हें सबके सामने नीचा दिखाने की कोशिश क्या मनुष्योचित काम है ? रचना का आकार अधिक न बढ़ाकर, मेरे मन में जो बात रातदिन घुमड़ रही है उसे इस समय कह कर मैं समाप्त करता हूँ ; वह यह कि तुम्हारे अनिष्टकारी के प्रति तुम मन से चाहे प्रीति और सद्भाव का विस्तार करो, वह करने से तुम्हें कोई नहीं रोकता किन्तु दुहाई है विश्वविद्यालय के महापंडितों को ! अनिष्टकारियों के साथ सहकारिता कर अपने हाथों को महापापकलंकित न करो। इस कंगाल की बात पर इस समय टटके में यदि दयापूर्ण कर्णपात न करोगे तो फिर उसके बासी होने पर निश्चय ही तुमलोगों को उसका फल भोगना होगा। फिर सर्वनाश ही है। ईश्वर न करे कि भारत के महाशत्रु पर भी वैसा भयानक दैव दुर्विपाक पड़े।'

असहयोग आन्दोलन और महात्मा गान्धी के आदर्श की व्याख्या सम्बन्धी कई लेख द्विजेन्द्रनाथ ने लिखे थे, जो 'यंग इण्डिया' में प्रकाशित हुए थे।

४

महात्मा गांधी जेल में —

राजरोष के कारण जब महात्मा गांधी जेल में बंदी (१९२२) थे, उस समय द्विजेन्द्रनाथ (८२ वर्ष) ने 'यंग इण्डिया' पत्र के तत्कालीन संपादक को निबंध, चिट्ठी लिखकर, गांधीजी के आदर्श का प्रचार किया। इस प्रकार की दो चिट्ठियाँ यहाँ प्रकाशित की जारही हैं। 'द फोर पिलर्स आफ् सत्याग्रह' नाम से ये दो चिट्ठियाँ प्रकाशित हुई थीं।

सत्याग्रह के चार स्तंभ

(१)

प्रिय भरत जी,

मेरा स्वास्थ्य ऐसा है कि महात्मा गांधी के दर्शन पर आपके लिए लेख लिखना मेरे लिए असंभव है। तो भी, इस सुखद अवसर पर महात्माजी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लोभ का मैं संवरण नहीं कर सकता, भले ही वह केवल विदुर के चावलों की धूल के समान हो।

उन लोगों से जिन्हें महात्माजी के उपदेश—जो उनके जीवन के समान हैं—रहस्यपूर्ण या दुरूह लगते हैं, मैं कहूँगा कि वे ज्ञात से अज्ञात फल को जिसे वे देखते हैं, जड़ जिसे देखना उनके लिए कठिन है, की ओर देखने की सामान्य विधि अपनाने को सलाह दूँगा।

महात्माजी उच्चतम और अत्यंत कार्यक्षम अर्थ में एक कर्मठ व्यक्ति हैं—इस विषय में किसी को तनिक भी संदेह नहीं करना चाहिए, यह देखकर कि उन्होंने अकेले ही भारत के मृतःप्राय लोगों को एक सिरे से दूसरे सिरे तक जागृत कर दिया इतिहास में ऐसा कोई अन्य उदाहरण नहीं मिलता।

व्यापारिक या सांसारिक अर्थ में महात्माजी काम के आदमी नहीं हैं यह उनके सरल निष्कपट जीवन, उनके शांत निःस्वार्थ दृष्टिकोण, उनके सीधे, सच्चे व्यवहार से प्रकट होता है। अतएव सामयिक आवश्यकता नहीं अपितु महात्मा की कार्यप्रवृत्तियों के मूल में सिद्धान्त है: परिणाम से हम उसे जानते हैं—फलेन परिचीयते।

हिन्दू और ईसाई दोनों ही धर्मों के विपरीत जो लोग परिणाम से नहीं किन्तु शाखाओं के द्वारा निर्णय करने के अभ्यस्त हैं अपनी प्रत्यक्ष जटिलता में उलझ जाते हैं और महात्मा पर असंगति का दोष लगाते हैं और यह भूल जाते हैं कि वही सात्विक कार्य विरोधी शक्तियों के आह्वान पर अनगिनत विभिन्न विधियों के रूप में शाखाबद्ध हो सकता है और हरएक शाखा परिणाम की एकता के कारण अपने मूल सिद्धान्त के प्रति सच्ची रह सकती है। प्राणिशास्त्र से एक उदाहरण देता हूँ: भिन्न प्रकार की विरोधी शक्तियों के प्रतिक्रियास्वरूप प्राणियों के एक वर्ग में वही शारीरिक कार्य मीनपक्ष द्वारा संपन्न होता है, दूसरे वर्ग में डैनों द्वारा, तीसरे वर्ग में हाथों द्वारा।

मशीन (सरकार) के अत्याचारों से अपने देशवासियों को मुक्त कराने के लिए महात्माजी हर प्रकार की हिंसा का सामना करने के लिए सदा प्रस्तुत रहे हैं किन्तु स्वप्न में भी स्वयं

हिंसा करने का विचार कभी नहीं किया। महात्माजी ने मौलिक साधनों की सरलता पर सदा बल दिया है, यंत्र के समान शिक्षा से बचने की सलाह दी है जिससे मानवात्मा बाह्य बाधाओं से अनावरुद्ध होकर पनप सके। महात्मा ने कठोर आत्मसंयम पालन करने का उपदेश दिया है, स्पष्टतः एक बुरे ढाँचे से बिलकुल दूर रहने की सलाह दी है जिससे कि सच्ची स्वाधीनता अपने शुद्ध रूप में प्राप्त की जा सके। मुक्ति, जो हिन्दुत्व का सार है, के प्रति आकर्षण महात्मा गांधी के दर्शन का मूलमंत्र है ; और उनकी पद्धति के चार स्तंभ हैं : अहिंसा, दुर्जन संग परिहार, न पापे प्रति पापः स्यात् (बुराई का उत्तर बुराई से मत दो), बुराई को भलाई से जीतो।

ये नई बातें नहीं हैं किन्तु हिन्दूधर्म का निचोड़ हैं, जो शास्त्रों में सर्वत्र विद्यमान हैं। एक शब्द में, महात्मा गांधी ऋषि हैं। उनका दर्शन प्राचीन ऋषियों के दर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। महात्मा गांधी की जय।

शान्तिनिकेतन,
६ सितंबर १९२२।

आपका,
बड़ोदादा
द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर

(२)

प्रिय भरतजी,

मैं अपने पिछले पत्र में महात्मा गांधी के जीवन और कार्यों से संबंधित एक प्रधान बात लिखना छोड़ गया जिसे मैं सोचता हूँ अपने पिछले पत्र के पूरक के रूप में भेज देना चाहिए ताकि मुझे गलत न समझा जावे। अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में गरीब भारतीय प्रवासियों को उस स्थान के मालिकों की दासता से बचाने के काम में व्यतीत किया है, उन शासकों का नारा था और अभी भी है—शक्ति बनाम उचित। उस कार्य से परमात्मा की कृपा से उन्होंने असाधारण मात्रा में आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त की है। जब वे भारत लौटे तो वह शक्ति सतत अभ्यास के फलस्वरूप, तथा कठोर आध्यात्मिक संयम से जिसका उन्होंने पीड़ित भारतीय जनता को बचाने के लिए कठोरता से पालन किया बढ़कर तिगुनी हो गई। उस शक्तिने जिससे उन्होंने चमत्कार कर दिखाया, सभी कार्यकर्ताओं को, जो शारीरिक शक्तिको छोड़ अन्य किसी शक्ति को नहीं जानते थे, लज्जित कर दिया। और अब मैं कहना चाहता हूँ कि महात्मा गांधी आशा करते हैं कि अन्य लोग जो उनका अनुसरण

करते हैं, उन्हें सबसे परे उस आत्मिक शक्ति को प्राप्त करना चाहिए जिससे वे दुर्दान्त शारीरिक शक्ति का सामना कर सकें जो रात दिन उन्हें कुचल डालने का अवसर खोजने में लगी है। उचित संयम के माध्यम से प्राप्त भौतिक शक्ति के प्रयोग के विषय में कहा जा सकता है कि जबतक आत्मा की शक्ति नहीं प्राप्त कर ली जाती तब तक केवल अहिंसा इच्छित उद्देश्य तक नहीं ले जा सकती।

मैं चाहता हूँ कि पाठक इस तथ्य की ओर विशेष ध्यान दें कि अहिंसा दो प्रकार की है, अर्थात् (१) आत्मिक शक्ति से युक्त अ-विरोध (२) आत्मिक दुर्बलता से युक्त अ-विरोध। आत्मिक शक्ति से मेरा तात्पर्य उस शक्ति से है जो सत्य में निहित है और जो न्यायोचित और उदार कार्यों में प्रकट होती है। आत्मिक दुर्बलता से मेरा अभिप्राय वर्तमान शासकों को अप्रसन्न करने का भय तथा उनकी कृपा प्राप्त करने की आशा में आँख मूँदकर उनकी आज्ञा मानने से है।

महात्मा की इच्छा अनुसार अहिंसा की पूर्ति के लिए आत्मिक शक्ति की प्राप्ति अत्यंत आवश्यक है। महात्मा की इच्छा को यदि पूर्णरूप से अभिव्यक्त किया जाय तो उसका अर्थ यह होगा : अहिंसा से युक्त आत्मिक शक्ति का अनुसरण करना चाहिए जिनका नारा है उचित बनाम शक्ति।

आपका स्नेहपूर्वक,
बड़ो दादा,
द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर

शान्तिनिकेतन, पो० आ०
(बीरभूम)
२० सितंबर, १९२२।

(३)

अंतिम भेंट

१९२५ साल के मई महीने में महात्माजी जब शान्तिनिकेतन आए तब द्विजेन्द्रनाथ के साथ उनकी अंतिम भेंट हुई। इस भेंट का महादेव देसाई द्वारा लिखित एक विवरण 'यंग इण्डिया' में छपा था—

अनेक दृष्टियों से बड़ोदादा से हुई भेंट असाधारण थी। जब गांधीजी जेल गए तो बड़ोदादा को कदाचित् यह आशंका थी कि वे गांधीजी के छूटने तक जीवित नहीं रहेंगे। वे जेल से छूटे ही नहीं किन्तु उन्हें देखने भी गए। दूसरी ओर गांधीजी को बड़ोदादा से मिलने की उत्कट अभिलाषा थी क्योंकि उन्हें उनके गिरते हुए स्वास्थ्य की सूचना मिली थी पूज्य बड़ोदादा बड़े ही उद्विग्न थे और जो उन्होंने कहा और किया वह सब प्रेम से सराबोर था।

गांधीजी ने अद्वेय बड़ोदादा के बराबर रखी हुई कुर्सी पर बैठना स्वीकार नहीं किया। लगभग पेंतीस वर्ष पूर्व वे दादाभाई नौरोजी के चरणों में बैठे थे, वे बड़ोदादा के चरणों में बैठे। 'मैं दूसरों के लिए जो भी होऊँ, कम से कम मुझे अपनी ऊँचाई से उतर आना चाहिए और अपने महात्मापन को छोड़ देना चाहिए।' उन्होंने बड़ोदादा से कहा जो उनसे कुर्सी पर बैठने का आग्रह कर रहे थे। और तीन दिन प्रातःकाल और संध्यासमय उन्होंने बड़ोदादा की बातें उसी भावसे सुनीं जैसे पुत्र पिता की बातें सुनता है, उन्होंने उन्हें श्रेष्ठतम आशीर्वाद दिए। पहली भेंट में उन्होंने कहा, "मैं जानता हूं कि तुम विजयी होगे, मैं जानता हूं तुम किस तत्त्व से बने हो'। वे भावावेग से मग्न हो गए और आगे कुछ न बोल सके। दूसरी भेंट में बिना रुके हुए वे लगभग एक घण्टे तक बोलते रहे, गांधीजी के कार्यक्रम के प्रत्येक अंग को उन्होंने आशीर्वाद दिया, ऐसा आवेग और शक्ति इससे पूर्व मैंने उनमें कभी नहीं देखी। 'हृदय की परिपूर्णता से मुख से वाणी निसृत होती है' अतः उन्हें रोकने का प्रयत्न करना व्यर्थ था। उनके लिए 'स्वराज के उस प्रभात काल में जीवित रहना वरदान' ही नहीं था बिना नवयुवक हुए 'वह स्वर्ग ही था।' 'शास्त्र का कथन है कि वह विश्वास जो पर्वतों को भी जीत लेता है ज्ञान का पहला सोपान है'—बड़ोदादा ने कहा, 'तुम उस विश्वास के साथ बढ़े और आज तुम्हें कोई भय नहीं है क्यों कि तुम आनन्द और ब्रह्म को प्राप्त कर चुके हो'—आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन—मंत्र को उन्होंने अनेक बार दुहराया। 'मुझे तुम में विश्वास है, मुझे परमात्मा में विश्वास है, परमात्मा में मेरे विश्वास के बाद ही तुम में मेरा विश्वास है—बड़ोदादा ने कहा। असाधारण प्रेम से विभोर होकर हँसते हुए गांधीजी ने कहा, "कैसी दयनीय बात है!" बड़ोदादा कहते रहे 'सत्य और अहिंसा के सामने सब अविद्या विलीन हो जावेगी, साम्राज्यवाद, बोल्शेविज्म तथा अन्य समस्त 'इज्मों' (वादों) के अतिरिक्त आज अविद्या क्या है? सत्य के बमविस्फोट से वे सब नष्ट हो जाएंगे। हम उनसे उनके हथियारों द्वारा नहीं लड़ सकते। तुम सिंह से उसकी अपनी गुफा में नहीं लड़ सकते। किन्तु महात्माजी, तुमने स्वयं अपने अस्त्र ढाले। चरखा तुम्हारा हथियार है, उनका नहीं। अहिंसा तुम्हारा हथियार है उनका नहीं और इसलिए वे जीत लिए जावेंगे। यदि चारों ओर पराजय हो जाए और सर्वत्र अग्नि और तलवार विध्वंस कर रहे हों तो भी मैं निश्चित हूं कि तुम पौराणिक फिनिक्स पक्षी के समान निरापद तथा अनाहत रहोगे जो अपनी भस्म से बारबार जीवित होजाता है। जो भी तुम करोगे व्यर्थ नहीं होगा। बुद्ध ढाई हजार वर्ष पूर्व हुए थे और यद्यपि पीछे बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमि से मिट गया तथापि अहिंसा आज भी पीढ़ियों से हममें चली आरही है, यह बुद्ध की देन है। विश्वास के साथ काम करो 'आनन्दं' ब्रह्मणो

विद्वान् न बिभेति कदाचन'। पूरा दिन मैं सोचता रहा कि तुम से क्या कहूं और प्रार्थना के पश्चात् जो प्रकाश उसने मुझे दिया मैंने तुम्हारे सामने रख दिया। किन्तु मैं क्या हूं! मैं केवल एक तुच्छ साधन हूं। मैं शास्त्रों को दुहरा रहा हूं और मुझे तुम्हारी अपेक्षा उनको दुहराने का कम अधिकार है। किन्तु मैं अपने को रोक नहीं सका और बच्चे के समान बकबक की है।' "क्या इससे आप थक नहीं जाते?" गांधीजी ने कहा। 'अन्य बातों की अपेक्षा कम थकानेवाला है"—उन्होंने बलपूर्वक कहा, और फिर उन्होंने उन्हीं बातों को दुहराया जो पहले कही थीं—इस बार पहले की अपेक्षा अधिक आवेग और उच्छ्वास के साथ। 'जो भी तुम्हारा विरोध करते हैं समय के बुलबुलों के समान विलीन हो जावेंगे। सत्य विजयी होगा और मैं उनके माथों पर अंकित पराजय देख सकता हूं। कुछ देर बाद 'भविष्यवाणी के ये उद्‌गार मौन हुए'। अंतिम शब्द ये थे "मैं यह सब आनंद विभोर हो कर कह रहा हूँ। जिन बातों की स्वप्न में मैंने कल्पना की थी उन्हें मैंने अपनी आँखोंसे देखा है किन्तु उन्हें देखने की कभी आशा नहीं थी। तुम मुझे इस प्रकार कहने को प्रेरित कर रहे हो। तुमने मेरी निराशा को दूर कर दिया और मैं आशा करता हूँ कि इन दिनों की स्मृति मरुस्थल, जो अभी भी मेरे जीवन में हो सकता है, की नीरस यात्रा में से सुरक्षित मुझे पार ले जावेगी।'

(४)

माघ ४, १३३१ बंगाल (१९ जनवरी १९२६) को ८६ वर्ष की अवस्था में शान्तिनिकेतन में द्विजेन्द्रनाथ ने परलोकगमन किया। उनकी मृत्यु का समाचार पाकर महात्मा गांधी ने द्विजेन्द्रनाथ के प्रति जो श्रद्धांजलि अर्पित की वह नीचे दी जारही है :

बड़ोदादा चले गये

यह विश्वास करना कठिन है कि बड़ोदादा अब नहीं हैं। शांतिनिकेतन से प्राप्त एक तार से मुझे यह दुखपूर्ण समाचार मिला है कि बड़ोदादा जो द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर के नाम से विख्यात थे शान्ति को प्राप्त हो गए हैं। वे नब्बे के लगभग थे और फिरभी वे इतने सजग, इतने प्रसन्न थे कि उनकी उपस्थिति में किसी को यह कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि संसार में वे कुछ ही दिनों के मेहमान हैं। प्रतिभासंपन्न व्यक्तियों के उस

परिवार के बड़ोदादा प्रतिष्ठित सदस्य थे। महान विद्वान् होने के अतिरिक्त—संस्कृत और अंग्रेजी दोनों में उनकी समान गति थी—बड़ोदादा उदारचेता गंभीर रूपसे धार्मिक व्यक्ति थे। उपनिषदों के प्रति उनकी गहरी निष्ठा थी किन्तु संसार के दूसरे धर्मग्रन्थों से प्रकाश ग्रहण करने को वे सदा तत्पर रहते थे। अपने देश को वे एक सच्चे अनुरागी देशभक्त के समान प्रेम करते थे तथापि उनकी देशभक्ति एकांगी नहीं थी। अहिंसक असहयोग के आत्मिक सौंदर्य को वे समझते थे, तथापि उसके राजनैतिक महत्त्व को उन्होंने कभी नहीं भुलाया। वे चरखा में पूरा विश्वास करते थे और इस परिपक्व अवस्था में भी उन्होंने खद्दर को अपनाया। एक नौजवान की उमंग के समान वे वर्तमान घटनाओं से घनिष्ठ संपर्क रखते थे। *बड़ोदादा के अवसान का अर्थ है हमारे बीच से एक महान ऋषि*, दार्शनिक, और देशभक्त का उठ जाना। मैं अपनी शोक संवेदना कवि तथा शान्तिनिकेतन आश्रम के सदस्यों के प्रति निवेदित करता हूँ।

मो० क० गा०

महात्मा गांधी के सचिव और अनन्य भक्त द्विजेन्द्रनाथ के परम अनुयायी महादेव देसाई ने इस उपलक्ष्य में द्विजेन्द्रनाथ के जीवन चरित और गांधीजी के साथ उनके संपर्क के विषय में विस्तार से चर्चा करते हुए 'यंग इण्डिया' के २८ जनवरी १९२६ के अंक में एक निबंध लिखा। महात्मा गांधी को मृत्यु के एक महीने से कुछ अधिक पूर्व द्विजेन्द्रनाथ ने अन्तिम पत्र लिखा था। उस पत्र में उन्होंने लिखा था कि उनकी वासना से मुक्ति हो गई है, वासनातीत लोक का स्पर्श उन्हें प्राप्त हुआ है—इस बात का भी इस लेख में उल्लेख हुआ है। इस निबंध के कुछ अंशों द्वारा प्रस्तुत संकलन समाप्त होता है।

बड़ोदादा

बड़ोदादा, शान्तिनिकेतन के ऋषि और महाराज १९ को प्रातःकाल नहीं रहे। समाचार देनेवाले तार को पढ़ते हुए मेरी स्मृति छः मास पूर्व शान्तिनिकेतन में बिताए गौरवपूर्ण दिनों की ओर चली गई; जब हमने बैठकर इस पैगम्बर के मुख से ये शब्द 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन' अर्थात् जिसने ब्रह्म के आनन्द को जान लिया है वह भय से रहित हो जाता है—सुने थे। बारबार उन्होंने इन शब्दों को दुहराया था, वे अभी तक मेरे कानों में गूंज रहे हैं, तीन वर्ष पहले भी मैंने उनको देखा था।

उस समय वे असहयोग के विचारों में डूबे हुए थे और गांधीजी के विषय में सबकुछ जानना चाहते थे जो जेल में थे। प्रतिक्षण वे बड़े ज़ोर से हँसते थे—जब वे असहयोग का विरोध करनेवाली शक्तियों की पराजय का उल्लेख करते थे। इस बार भी अंधकार की शक्तियों के विरुद्ध वैसी ही उदात्त विरोध की भावना थी—सभी वादों के लिये उन्होंने कहा, सत्य के बम के विस्फोट से टुकड़े टुकड़े हो जायेंगे—किन्तु इस बार, पहले के सभी अवसरों के प्रतिकूल उनके चेहरे पर चिन्तापूर्ण उदासीनता की झलक थी। उन्होंने गांधीजी से कहा, "आपका आगमन मरुस्थल में उद्यान के समान है। इन दिनों की स्मृति अभी भी शेष नीरस जीवनयात्रा के पार सुरक्षित रूप से मुझे ले जाए।' गांधीजी से विदा लेने की उदासीनता ही नहीं थी, यह ब्रह्म से महान् वियोग की खिन्नता थी। अपने पूरे दीर्घजीवन में आदि ब्रह्म समाज के प्रमुख सदस्य के रूप में, असंख्य धार्मिक तथा दार्शनिक निबंधों के लेखक के रूप में उन्होंने इस ब्रह्म के विषय में चिन्तन किया उसके विषय में चर्चा की, अपनी कविताओं में उसके गुणों का गान गाया किन्तु वे अनुभव करते थे कि अभी भी उसके और अपने बीच में एक खाली थी। गांधीजी ने उनसे विदा होते समय कहा, "कृपा करके आप अपनी देह तबतक रखें जबतक वह न देख लें जो आपका हृदय चाहता है।" उनके स्वर में कंपन था जैसे ही उन्होंने कहा, "हाँ, मैं रहूँगा।" तब से प्रार्थना करते रहे और ध्यान करते रहे जबतक कि अंत में उन्हें वह मिल गया। दिसंबर की १५ तारीख को वर्धा में गांधीजी को उनका एक पत्र मिला, जिसमें केवल एक वाक्य था, 'आपको प्रार्थनाओं के लिए आभारी हूँ" मैं स्मृति के आधार पर उद्धृत कर रहा हूँ, "अब मुझे वह प्राप्त हो गया है जिसे पाकर और कुछ पाने की इच्छा नहीं रह जाती"—यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। देह का उनके लिए अब कोई उपयोग नहीं रह गया था और इस अनुभूति के थोड़े दिनों के भीतर ही उन्होंने उसे त्याग दिया।

म० दे०

[अनु०—कणिका तोमर]

श्यामली, जहाँ गांधीजी ठहरते थे

संपादक की ओर से

महात्मा गांधीजी की जन्मशती के अवसर पर विश्वभारती पत्रिका का विशेषांक प्रकाशित करने का विशेष महत्त्व है। महात्माजी का शान्तिनिकेतन से विशेष संपर्क रहा; गुरुदेव, बड़ोदादा, एण्ड्रूयूज से उनकी घनिष्ठ मैत्री थी, इसके अतिरिक्त नंदलाल बोस, मल्लिक जी आदि अनेक आश्रमवासियों से गांधीजी का परिचय था। विश्वभारती पत्रिका उनके आशीर्वाद से प्रारंभ हुई थी। उनका व्यक्तित्व विराट था और उनकी कार्य प्रवृत्तियाँ इतनी व्यापक थीं कि राष्ट्र का कोई अंग अछूता नहीं रहा। दीनबन्धु एण्ड्रूयूज के साथ महात्माजी की मैत्री थी, इन दोनों महापुरुषों के संबंध में दीनबन्धु एण्ड्रूयूज की जन्मशती के अवसर पर निकलनेवाले विश्वभारती पत्रिका के विशेषांक में प्रकाश डाला जायेगा। गुरुदेव और महात्माजी में कई महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर गहरा मतभेद था, हमने विस्तार भय से उन पर प्रकाश नहीं डाला है। इस प्रकार के लेखों को हम इस विशेषांक में स्थान नहीं दे सके।

पत्रिका का यह अंक प्रकाशित होने में बहुत विलंब हो गया। गत अक्टूबर में इसे प्रकाशित हो जाना चाहिए था। किन्तु नाना बाधाओं के कारण ऐसा नहीं हो सका। हम इस विलम्ब के लिए अपने पाठकों से क्षमा चाहते हैं।

इस अंक के निकालने में हमें स्थानीय रवीन्द्रभवन से विशेष सहायता मिली है, इसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। विभाग के श्री सूर्यकुमार योगी और रणजीत कुमार साहा ने जो सहयोग दिया है उसका उल्लेख साभार करते हैं।

—रामसिंह तोमर

"यदि मैं
रेलवे प्रशासन का
उच्च अधिकारी होता···
तो मैं यही परामर्श देता कि जनता
से कह दिया जाय कि टिकिट न
खरीदने से गाड़ियां बन्द करदी
जायेंगी और जब वे खुशी खुशी
भाड़ा चुका देंगे तभी गाड़ियां फिर
चलेंगी।" —महात्मा गांधी
पूर्व रेलवे

विश्वभारतीपत्रिका

खण्ड १० की अनुक्रमणिका
चैत्र २०२६— फाल्गुन २०२६
अप्रैल १९६९—मार्च १९७०

सम्पादक
रामसिंह तोमर

लेखकानुक्रमणिका (अकारादि क्रम से)

खण्ड १० (चैत्र २०२६-फाल्गुन २०२६)

लेखानुक्रमणिका